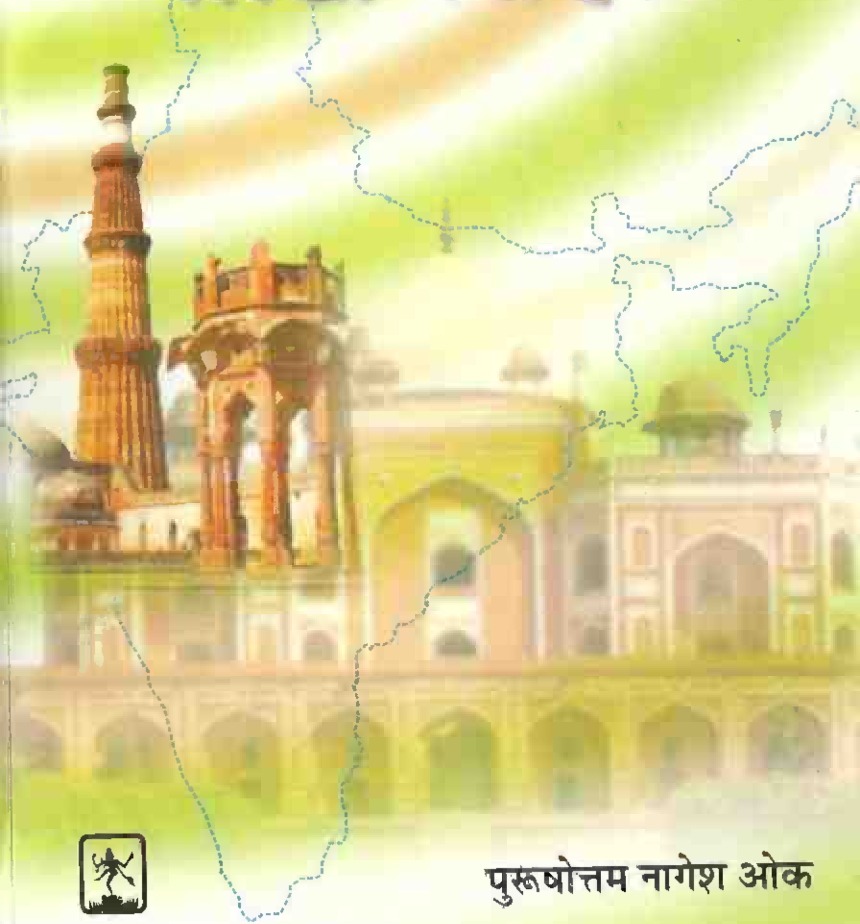
क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है?



पुरूषोत्तम नागेश ओक

क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है?

पुरुषोत्तम नागेश ओक

मूल्य : 30.00
प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
email : indiabooks@rediffmail.com
फोन : 23553624
संस्करण : 2011
मुद्रक : संजीव ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-51

सम्पादकीय

क्या भारत का इतिहास भारत (भारतीयता) के शत्रुओं ने लिखा है? इसी प्रश्न का एक पहलु यह है—विश्वभर के विश्वविद्यालय जहाँ बड़े-बड़े इतिहासकार अधिकार जमाकर बैठे हैं, सहस्रों इतिहासकार वहाँ बैठे लाखों लोगों को इतिहास पढ़ाते हैं, क्या वे भारत के शत्रु हैं? अथवा क्या वे बुद्धि के कोहलू हैं?

अंग्रेजी भाषा में एक पद है जिसका अर्थ है, या तो धूर्त हैं अथवा मूर्ख हैं?

मूर्ख इस दृष्टि से हैं कि प्रायः पढ़े-लिखे लोग एक कल्पना कर लेते हैं और अपनी कल्पना ठीक है, फिर उसके प्रमाण ढूँढ़ते फिरते हैं। जो भी प्रमाण (?) उन्हें मिलते हैं उनको जबरदस्ती अपनी कल्पना में सही उतारने की चेष्टा करते हैं। जैसे गोलाकार छिद्र में चौकोर टुकड़ा फिट करने का प्रयास किया जाता है।

विद्वानों की कल्पना में यह बात आई कि मध्य एशिया से सभ्यता सारे विश्व में फैली। भारत में भी तथा योरुप में भी। अब लाख युक्ति उनको दें कि यह सभ्यता मूल में भारत से मध्य एशिया को गई और वहाँ से विश्व में फैली परन्तु ये बुद्धि के कोल्हू जो गोल सुराख बनाकर बैठे हैं, इस बात को मानने को तैयार नहीं कि उनके मस्तिष्क में जो गोल सुराख बना है वह उनकी भूल है।

एक विचित्र बात यह है कि वर्तमान सभ्यता में पले तथाकथित विद्वान

क्यों इतना बिदक उठते हैं जब उन्हें यह बताने का प्रयास किया जाता है कि आदि सभ्यता वैदिक सभ्यता है तथा वेदों में सृष्टि सम्बन्धी तथा आध्यात्मिक ज्ञान भरा पड़ा है। कुछ भी, जो भारत के मूल की बात होगी वे मानने को तैयार नहीं होते?

और तो और, भारत में पढ़े-लिखे (विद्वान) भी उनके पीछे दुम हिलाते फिरते हैं। उनको भी भारतीयता से ऐसे ही चिढ़ हो गई है जैसे लाल कपड़ा देखकर सांड को हो जाती है।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के स्थापक मैकाले ने अपने पिता को एक पत्र में लिखा था कि जो भी व्यक्ति एक बार इस शिक्षा पद्धति से शिक्षित हो जाएगा वह अपनी सभ्यता, संस्कृति, मान्यताओं तथा धर्म पर आस्था नहीं रख सकता।

यह कहा जाता है कि जो जाति अपना इतिहास भूल जाती है वह नष्ट हो जाती है। वह जन-समुदाय तो रहता है परन्तु दिशाहीन-सा।

भारत की महानता, भारत के आध्यात्म ज्ञान में, भारतीयों के चरित्र-बल में, वेद उपनिषदादि दर्शन शास्त्रों में वर्णित ज्ञान के कारण है। इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि 1200 वर्षों की गुलामी के बाद भी हम एक जीवित जाति हैं।

परन्तु हमारे इतिहास को भ्रष्ट कर हमें अपनी परम्पराओं से दूर किया जा रहा है। और इसमें मुख्यतया संलग्न ये इतिहासकार ही हैं। हमारा इतिहास बदला जा रहा है। हमारा साहित्य मिथ्या आधारों पर रचा जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि समाज में अनाचार, दुराचार, भ्रम, भ्रष्टाचार फैल रहा है और यह बढ़ता ही जा रहा है।

इस लेख में (विशेषांक में) श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक ने यह बताया है कि भूल कहाँ है।

भूमिका

यदि इतिहास से हमारा अर्थ किसी देश के तथ्यात्मक एवं तिथिक्रमागत सही–सही भूतकालिक वर्णन से हो, तो हमें वर्तमान समय में प्रचलित भारतीय इतिहास को काल्पनिक 'अरेबियन नाइट्स' की श्रेणी में रखना होगा।

इस लेख में मैंने भारतीय इतिहास–परिशोध की कुछ भयंकर भूलों की ओर इंगित किया है। जो भूलें यहाँ सूची में आ गई हैं, केवल वे ही अंतिम रूप में भूलें नहीं हैं। भारतीय और विश्व–इतिहास पर पुनः दृष्टि डालने एवं प्राचीन मान्यताओं का प्रभाव अपने ऊपर न होने देने वाले विद्वानों के लिए अन्वेषण का कितना विशाल क्षेत्र उनकी बाट जोह रहा है, केवल यह दिखलाने के लिए ये तो कुछ उदाहरण मात्र हैं।

हमारी शिक्षा–संस्थाओं में आज जिस प्रकार भारतीय इतिहास पढ़ाया जा रहा है, हमारे अनुसंधान संगठनों में आज जिन भ्रमकारी धारणाओं पर इसे देखा जा रहा है, और आज जिस प्रकार इसको सरकारी और विश्वविद्यालयीय माध्यमों में विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, वह समस्त भयावह स्थिति मुझे अत्यंत दुःख दे रही है।

भारतीय इतिहास में जिन विशाल सीमाओं तक अयथार्थ और मनघड़ंत विवरण गहराई तक पैठ चुके हैं, वह राष्ट्रीय घोर संकट के समान है। जो अधिक दुःखदायी बात है, वह यह है कि प्रचलित ऐतिहासिक पुस्तकों में समाविष्ट इन तोड़मरोड़ों, भ्रष्ट वर्णनों और विसंगतियों के अतिरिक्त अनेक विलुप्त अध्याय भी हैं। इन विलुप्त अध्यायों का सम्बंध विशेष रूप में उस साम्राज्यशाली प्रभुत्व से है जो भारतीय क्षत्रियों को दक्षिण–पूर्व प्रशांत महासागर में बाली द्वीप से उत्तर में बाल्टिक सागर, तथा कोरिया से अरेबिया

और सम्भवतः, मैक्सिको तक प्राप्त था। कम-से-कम, उसी विशाल क्षेत्र में तो वे दिग्विजयें (सभी दिशाओं को विजय करना) हुई थीं जो हम बहुधा भारतीय वाङ्मय में पाते हैं। हमारे (आधुनिक) इतिहास-ग्रंथ उन पराक्रमों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते।

भारतीय इतिहास-परिशोध किन प्रमुख स्थलों पर तथ्यात्मक और तिथि-क्रमागत सत्य के मार्ग से भटक गया है उनकी कम-से-कम स्थूल रूप में कुछ अनुभूति तथा यह अनुभूति कि इसके कम-से-कम कुछ महत्त्वपूर्ण अध्याय तो विलुप्त हैं ही—दोनों ही हमारे विद्वानों, शिक्षण-संस्थानों, अनु-संधान-संगठनों, विद्यार्थियों, शिक्षकों और जन-सामान्य के लिए अनिवार्य हैं।

भारतीय इतिहास-परिशोध की कुछ भयंकर भूलें मुझे मिलीं, उनको प्रस्तुत करने का ही इस समय विचार है। किसी भी प्रकार समझिए, मैं कोई बड़ी भारी सूची, ऐसी भूलों की नहीं रखता हूँ। यहाँ जिन थोड़ी-सी भूलों का मैं अभी उल्लेख करना चाहूँगा, वे तो भारतीय इतिहास से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को चौकन्ना करने के लिए पर्याप्त उदाहरण मात्र हैं कि जो कुछ उनको चौबीसों घंटे, भारतीय इतिहास में सही-सही बताए जाने की घोषणा की जाती है, वह भ्रान्तियों के कारण विषाक्त है, और अपने विलुप्त अध्यायों के कारण आवश्यक संजीवंत तत्त्वों से विहीन हो निष्प्राण है।

यदि हम शिक्षा-जगत् की पाठ्य-पुस्तकों में व्याकरण, वाक्य-विन्यास या विषय-वस्तु सम्बन्धी थोड़ी त्रटियों से उत्तेजित हो जाते हैं, तो हमें पढ़ाए जा रहे और समस्त विश्व को प्रस्तुत किए जा रहे त्रुटिपूर्ण तथा पंगु भारतीय इतिहास को देखकर तो हमें निश्चित रूप से ही आग-बबूला होना चाहिए।

भयंकर भूलों की खोज

हुआ ऐसा कि अपने शिशुकाल से ही मुझे ऐतिहासिक स्मारकों का भ्रमण करने में बड़ा मजा आता था। वर्षानुवर्ष व्यतीत होने पर, विशेष रूप से जब मैं दिल्ली, आगरा और फ़तहपुर सीकरी गया और जब मुझे बताया गया, जैसाकि अन्य सभी लोगों को बताया जाता है कि लगभग सभी मध्यकालीन

स्मारक इस या उस सुल्तान के बनाए हुए हैं तो मेरे मस्तिष्क में प्रश्नों की झड़ी ही लग गई।

मैं सोच में पड़ गया कि इसका क्या कारण है कि पाण्डवों से लेकर पृथ्वीराज तक, कम-से-कम 3000 वर्ष तक निरन्तर शासन करने वाले हिन्दुओं का अपना कहलाने वाला कोई भी स्मारक नहीं है! यदि उन्होंने कोई स्मारक नहीं बनाया था, तो वे, उनके राजसेवक और अन्य लोग रहते कहाँ थे? यदि उस काल में, जैसाकि शेखी मार-मारकर वर्णन किया जाता है, भारत में दूध-दही और मधु की नदियाँ बहा करती थीं, और प्रत्येक चिमनी में से सोने का धुआँ निकलता था, तो वह अपार धन संग्रहीत कहाँ होता था? और यदि रोम रोमनिवासियों के द्वारा बना है, लंदन लंदनवासियों और टोकियो जापानियों द्वारा, तो यह केवल भारत में ही कैसे हो गया कि दिल्ली, आगरा, फ़तहपुर सीकरी, इलाहाबाद, अहमदाबाद तथा मध्यकालीन स्मारकों से भरपूर अनेक अन्य नगरियाँ विदेशियों के अनेक प्रकारों; यथा अफ़गान, तुर्क, ईरानी, मंगोल, अबीसीनियन, कज़ाक और उज़बेकों द्वारा तथा तथ्य रूप में तो भारतीयों के अतिरिक्त सभी लोगों के द्वारा बनाई-बसाई गईं? और क्या ये भारतीय, जो निर्माण-कला में इस प्रकार गोबर-गणेश और नौसिखिए समझे गए, वही व्यक्ति नहीं हैं जिन्होंने मदुराई-मंदिरों, रामेश्वर-सेतु, कोणार्क, अजन्ता, एलोरा तथा चट्टानें काटकर अनेक भव्य प्रासाद, आबू पर्वत पर मंदिर, रणथम्भौर जैसे दुर्धर्ष दुर्ग और आमेर तथा उदयपुर जैसे राजप्रासाद बनाए? और यदि भारत के महत्त्वपूर्ण सभी नगरों की स्थापना करने वाले और यहाँ के सभी प्रसिद्ध भव्य स्मारकों का निर्माण करने वाले उपर्युक्त विदेशी महानुभाव ही थे तो यह क्या बात है कि भारतीय वास्तुकला की हिन्दू शैली के लिए उन सभी में समान रुचि थी? और यदि भारतीय संस्कृति से ही वे इतने सम्मोहित हो आकृष्ट हुए थे, तो इसका क्या कारण है कि वे हिन्दू नाम से ही इतना अधिक वैर करते थे और अत्यंत उत्तेजित हो बार-बार लूटना, हत्याएं करना, व्यभिचार और विध्वंसादि घृणित कार्यों में लगे रहते थे? और यदि शताब्दियों तक ये विदेशी शासक और उनके सरदार अपने मक़बरे और राजमहल हिन्दू शैली में बनाते

रहे, तो क्या उनके सांस्कृतिक एवं धार्मिक अनुवर्ती—आज के मुस्लिम—कोई भी अपना मकबरा, मस्जिद या घर किसी हिन्दू चिह्न से युक्त बनाते हैं ? और इसका क्या कारण है कि ये विदेशी लोग, जो विभिन्न राष्ट्रों से सम्बन्ध रखते थे, दास से लेकर शाहज़ादे तक के विभिन्न स्तरों के थे और विभिन्न जातियों के थे, स्मारक के पश्चात् स्मारक, नगरोपरान्त नगर और मक़बरे व मस्जिद—सभी कुछ हिन्दू लक्षणों से युक्त बनाने में उसी उत्साह और एक-सी रुचि का प्रदर्शन करते रहे ? इसका क्या कारण है कि बिना तदनुरूप राजप्रासादों के, उन लोगों ने केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनवाईं। यदि उन्होंने अपने पूर्वजों के लिए केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनाईं तो ये सभी विदेशी शासक व उनके सरदारादि कहाँ रहते रहे ? कंगले से शहज़ादे तक सभी मुस्लिम घरों में निरन्तर चलने वाले वीभत्स घरेलू उत्तराधिकार के पारम्परिक संघर्षों के संदर्भ में इसका क्या स्पष्टीकरण है कि पूर्वजों से लेकर अनुजों तक सभी ने अपने उन पूर्वजों के लिए मकबरे बनवाए, जिसके रक्त के प्यासे वे सारी उमर रहे थे, और जिनको गुप्त भाव में मूलोत्पाटन करने के लिए सदैव अत्यंत आतुर रहते थे ?

इस प्रकार के हजारों विचारों ने मेरे मानस में हलचल मचा दी और मुझे अशांत कर दिया। वे सब मेरे सम्मुख एक पहेली बनकर खड़े हो गए—असंगतियों और परस्पर विरोधी बातों का एक पिटारा सम्मुख था।

इन प्रश्नों ने मुझे गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विवश कर दिया। हताश हो, मैं विश्व के इतिहास में इसके समान उदाहरण ढूँढ़ने लगा। मैं खोजने लगा कि क्या किसी अन्य देश में भी ऐसे स्मारक हैं जिनको उनके सपूत देशवासियों ने न बनाकर, उस देश को जीतने वाले बाहरी व्यक्तियों ने बनाया हो ? मेरे मानस में रोम नगरी का चित्र आ गया। रोम की भी उन्नत प्राचीन सभ्यता थी, और उसमें अभी भी प्राचीन भव्य स्मारकादि हैं। मैं स्वयं सोच में पड़ गया कि क्या यह ठीक होगा कि मैं किसी रोमवासी के समक्ष यह विचार प्रस्तुत करूँ कि वे समस्त सुन्दर तथा भव्य भवन उसके पूर्वजों द्वारा न बनाए जाकर उन विदेशी लोगों द्वारा बनाए गए थे जिन्होंने समय-समय पर रोम को जीता था और अपने अधीन किया था ? यह बिल्कुल बेहूदा बात होती।

मैं विचार करने लगा, कि तब क्या यह सम्भव है कि आज जो स्मारक जिहादियों द्वारा निर्मित भारतीय शैली के विश्वास किए जाते हैं, वे सब हमारे प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू, राजपूत और क्षत्रियों द्वारा बनाए गए मन्दिर, दुर्ग और राजमहल हैं जो जिहादी आक्रान्ताओं ने जीत लिए थे, जिनमें वे रहे थे और जिनको उन्होंने बाद में मकबरों और मस्जिदों में बदल दिया था। केवल मात्र कल्पना होने पर भी वह विस्मयकारी विचार था। किन्तु यह अन्वेषणीय अवश्य था।

इसके अतिरिक्त, किसी काग़ज़ या अभिलेख का ऐसा एक भी टुकड़ा उपलब्ध नहीं है जो यह प्रदर्शित करता हो कि एक भी मकबरा, क़िला या मस्जिदों बनाने का आदेश किसी जिहादी सरदार या शासक ने दिया हो। भूखण्ड के अधिग्रहण अथवा भवन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में कोई भी रूपांकन, चित्रांकन, कोई पत्र-व्यवहार या आदेश, भेजी गई सामग्री के लिए देयक और अपनी सेवाओं के बदले में पावतियाँ कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं।

यथार्थतः, इतिहासवेत्ताओं और अन्वेषणकर्त्ताओं को बुरी तरह झाँसा दिया गया है। उनके लिखे सभी इतिहास और ग्रन्थ केवल सुनी-सुनाई बातों पर ही आधारित हैं। चूँकि कोई भी भवन स्पष्ट रूप में शताब्दियों से मकबरे या मस्जिद के रूप में उपयोग में आता रहा है, इसलिए उन लोगों ने धारणा बना ली कि यह भवन मूल रूप में ही इस प्रकार के बनाने के लिए आज्ञापित था। यही तो वह भयंकर भूल है जिसने हमारे सभी पुरातत्त्वीय अभिलेखों, ऐतिहासिक-स्थलों के नाम-पट्टों, पाठशालाओं और विद्यालयों में प्रयुक्त होने वाली ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्वेषण-संस्थानों में आत्मतुष्टि और सहज रूप में ही सन्दर्भ के लिए आधार बनाई गई विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों को विकृत कर दिया है।

यह गम्भीर भूल राष्ट्र को बहुत महँगी पड़ी है। भारत पर एक हज़ार वर्ष से अधिक समय तक विदेशियों का शासन रहने के कारण इन भयंकर भूल-भरी धारणाओं, और विदेशी चाटुकार दरबारियों अथवा अपनी यशगाथाओं का वर्णन करते हुए स्वयं शासकों द्वारा लिखे गए स्मृति ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों ने

शनैः–शनैः समय व्यतीत होने के साथ–साथ अधिकारिता और शुचिता की छाप ग्रहण कर ली है। उस घोर असत्यता का भारी बोझ अब इतना अधिक, सघन व गहन हो चुका है कि इस भयंकर भूल को अनुभव करने वाले भी इसको निर्मूल करने में नैराश्य से दुःखी हो जाते हैं। अतः वे स्वयं को इसी में सन्तुष्ट कर लेते हैं कि अब तो जो पढ़ाया जा रहा है, ठीक ही है, चलते रहने दो। सब्र ही कर लेना चाहिए। वे सोचते हैं कि अब तो इस बात के विरुद्ध शोर–शराबे का समय निकल चुका है। इस प्रकार हम एक दूषित चक्र में फँस जाते हैं। हम अपने विद्यार्थियों को झूठा इतिहास पढ़ाते हैं जो इसी प्रकार लिखा गया है, और परस्पर विरोधी तथा बेहूदा बातें होते हुए भी इस इतिहास की अवहेलना करने का साहस इतिहास का कोई विद्वान् नहीं करता क्योंकि यही तो वह इतिहास है जो उनको पढ़ाया गया है।

मैं इतिहासवेत्ताओं को इस बात से सावधान करना चाहता हूँ कि जब तक स्वतंत्र रूप से सिद्ध करने वाला और स्पष्ट अन्य प्रमाण न मिल जाए, तब तक स्मारकों पर लगे, खुदे हुए विवरणों को स्मारकों के मूल से सम्बद्ध करने का यत्न न करें। विन्सेंट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'अकबर—महान् मुगल' में ठीक ही लिखा है कि अधिग्रहीत स्मारकों पर उसकी इच्छानुसार खुदाई करने के लिए अकबर ने अपने पास एक पूरी फौज़ ही रखी हुई थी। फ़तहपुर सीकरी के स्मारकों पर उत्कीर्ण सामग्री इसी प्रकार की खुदाई है।

इस प्रकार की निराधार विश्वासांधता ने ही इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल कर दिया है कि ग्वालियर स्थित मोहम्मद ग़ौस का तथाकथित मकबरा, फ़तहपुर सीकरी स्थित सलीम चिश्ती और दिल्ली में हज़रत निज़ामुद्दीन की दरगाहें जो अत्यन्त परिश्रम से बनाए हुए मन्दिर प्रतीत होते हैं, वास्तव में मन्दिर ही हैं। यह कथन कितना हास्यापद है जब हम विचार करें कि मुस्लिम आक्रमणकारी इतने बहुविध निर्माता थे कि उन लोगों ने न केवल घृण्य–शासकों के लिए ही, अपितु सफ़दरजंग जैसे सरदारों एवं भिश्ती, जमादार, कुम्हारों, धायों और हिजड़ों के भी राजप्रासादीय स्तर के भव्य स्मारक बनवाए।

—**पुरुषोत्तम नागेश ओक**

भारतीय स्मारकों का निर्माण-श्रेय विदेशी मुस्लिमों को दिया गया

भारतीय इतिहास-परिशोध में जिस भयंकर भूल का मैंने सर्वप्रथम भण्डाफोड़ किया है, वह मध्यकालीन स्मारकों के मूल के सम्बन्ध में है।

प्रमुख-प्रमुख स्मारकों का एक-एक कर अध्ययन करने के पूर्व हम अविश्वासी व्यक्तियों से कहना चाहते हैं कि हम ऐसे स्मारकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर सकते हैं जिनको इतिहासवेत्ताओं ने स्वीकार कर लिया है कि यद्यपि आज वे छद्मवेष में मुस्लिम स्मारक द्रष्टव्य हैं तथापि मूलरूप में वे पूर्वकालिक हिन्दू-भवन ही हैं। यह प्रथम दर्शनाधारित विषय उनका विद्वत्तापूर्ण ध्यान अन्य सभी मध्यकालीन स्मारकों के सम्बन्ध में हमारे विश्वास की ओर खींच सकता है।

पूना-स्थित पूर्वकालिक पुण्येश्वर और नारायणेश्वर मन्दिर आज शेख सल्ला दरगाह—छोटी और बड़ी के नाम से पुकारे जाते हैं। महामहोपाध्याय दत्तो वामन पातेदार ने, जो स्वयं सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं तथा पूना विश्वविद्यालय के भूतपर्व उपकुलपति हैं, पूना में दिसम्बर '63 में हुए भारतीय इतिहास परिषद् के रजत जयन्ती अधिवेशन के अवसर पर स्वागत-समिति के अध्यक्षीय भाषण में इस तथ्य का उल्लेख किया था।

मध्य भारत में धार नामक स्थान पर तथाकथित कमालमौला मस्जिद को अब पिछले कुछ वर्षों से, विमनस हो, पुरातन 'सरस्वती-कण्ठाभरण' स्वीकार किया जाने लगा है। इस भण्डार में प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण

संस्कृत-नाटक सुरक्षित रखे जाते थे। यह तथ्य तब प्रकट हुआ जब छद्मरूप में ऊपर किया हुआ पलस्तर, रहस्य का भण्डाफोड़ करता हुआ अचानक एक दिन नीचे गिर गया।

गुजरात में सिद्धपुर नामक स्थान पर सुप्रसिद्ध लिंग-महालय अर्थात् शिवमन्दिर अभी भी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

वाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर अभी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

सुप्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर भी, ब्रिटिश शासन से मुक्ति-पूर्व, भारत में मस्जिद ही समझा जाता था और तथ्यरूप में मस्जिद के रूप में ही व्यवहार में आ रहा था।

देश-विभाजन के दंगों के दिनों में ही तो यह मालूम पड़ा था कि पुरानी दिल्ली के दरीबा-कलाँ नामक स्थान पर एक तथाकथित मस्जिद के तलघर में हिन्दू-देवमूर्तियों का विपुल भण्डार दबा पड़ा है।

अजमेर-स्थित 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' अब सर्वसम्मत रूप में विग्रह-राज विशालदेव के शिक्षण-स्थल का अंश स्वीकार कर लिया गया है।

दिल्ली--स्थित तथाकथित कुतुबमीनार अब व्यापक रूप में पूर्वकाल का हिन्दू-स्तम्भ स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि मुस्लिम लीग के जनक और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया था कि, "कुतुबमीनार और पार्श्वस्थित मन्दिर का निर्माण-श्रेय हिन्दूकाल को देने वाली वर्तमान परम्परा ठीक मालूम देती है।"

ये तो केवल मात्र कुछ उदाहरण ही हैं, किन्तु यदि समस्त भारत में विद्यमान उन स्मारकों की एक बृहद् सूची बनाई जाय जो आज भी सर्वमान्य रूप में हिन्दू-स्मारक ही हैं चाहे वे छद्मरूप में मुस्लिम प्रतीत होते हैं, तो मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि इनकी संख्या हज़ारों तक पहुँच जाएगी।

इन उदाहरणों ने मेरे सन्देहों को बल प्रदान किया, और मैंने मुस्लिमों से सम्बद्ध अन्य स्मारकों का सूक्ष्मता से तथ्य-निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। और आश्चर्य की बात तो यह है कि मुझे ज्ञात हो गया कि किसी भी

मुक्त मानस को उन स्मारकों के हिन्दू-मूलक सिद्ध करने के लिए वे स्मारक स्वयं ही पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं ।

हम कश्मीर पर दृष्टि डालें। केवल कुछ शताब्दी पूर्व ही कश्मीर-उपत्यका संस्कृत-मन्त्रों से गुंजरित हुआ करती थी। धूलि-धूसरित हिन्दू-भवनों के ध्वंसावशेष अभी भी कश्मीर में मार्तण्ड तथा अन्य स्थानों पर देखे जा सकते हैं। कश्मीर की राजधानी का नाम 'श्रीनगर' अभी भी विशुद्ध संस्कृत है। घाटी में प्रवाहित होने वाली नदी का नाम, 'जेहलम', भी पानी अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'जलम्' से व्युत्पन्न है। श्रीनगर की एक पहाड़ी पर स्थित महान् संस्कृत दार्शनिक शंकराचार्यजी का मन्दिर एक सुप्रसिद्ध भू-चिह्न है।

वेरिनाग

श्रीनगर पहुँचने से लगभग 20 मील पहले एक विपथगमन पर मोटर मार्ग से 10-12 मील पर हम वेरिनाग जा पहुँचते हैं। यहीं पर जेहलम नदी का उद्गम है, जो मैदीना और समतल भूमि के धरातल से बिल्कुल स्पष्ट नीलवर्ण झरने के रूप में फूटती है। 'जल-सर्प' के द्योतक 'वारिनाग' संस्कृत-शब्द का कुछ अपभ्रंश-रूप ही तो वेरिनाग है। नागपूजा के लिए हिन्दू लोग विख्यात हैं। लोकप्रिय हिन्दू जनश्रुति के अनुसार हमारी मातृभूमि क्या सकल पृथ्वीमाता का अवलम्ब ही शेषनाग है। परम्परा के अनुरूप ही वेरिनाग का एक मन्दिर समीपस्थ वृक्ष के नीचे झुरमुट में अभी भी बना हुआ है। नदी-निर्झर एक लघु वर्तुल जलकुण्ड में समाविष्ट है। जलकुण्ड के चहुँ ओर एक 8 से 10 फीट ऊँची स्तम्भपीठ है जिसमें मेहराबदार तोरण हैं। इन सघन तोरणों के मध्य में प्राचीन प्रस्तर की देव-प्रतिमाएँ हैं जो सिर पर पगड़ी धारण करने वाले और अपने ललाट पर सुगन्धित चन्दन का लेप करने वाले डोगरा पण्डितों द्वारा अभी भी पूजी जाती हैं। चारों ओर, पास में ही, विस्तृत स्तम्भपीठ के अवशेष देखे जा सकते हैं जो इस बात के स्पष्ट रूप में द्योतक हैं कि यहाँ पर निर्मित कोई भवन अवश्य ही गिरा दिया गया है। किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक को यह विश्वास दिलाने के लिए ये ध्वंसावशेष पर्याप्त हैं कि

इसी स्थल पर सुशोभित प्राचीन वारिनाग-मन्दिर मुस्लिम विजेताओं द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यदि इस क्षेत्र की खुदाई की जाए, तो निश्चित है कि और भी देव-प्रतिमाएँ तथा अन्य साक्ष्य उपलब्ध होंगे। इस अत्यन्त प्रबल प्रमाण की विद्यमानता के होते हुए भी तुलनात्मक रूप में नवीन, लाल पत्थर के एक फलक को वहाँ लगा दिया गया है जो आधुनिक उर्दू भाषा में घोषणा कर रहा है कि इस निर्झर को अपने अंचल में समा लेने वाला निर्माण-कार्य अकबर या जहाँगीर की प्रेरणा पर किया गया था।

यह दावा परि-परिक्षण पर सही सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा प्राचीन निर्माण-कार्य यह है, उससे हिन्दुस्तान के किसी शक्तिशाली सम्राट को तो क्या, किसी साधारण गृहस्थ को भी कोई यश नहीं मिलेगा! नदियों के स्रोतों को जल-कुण्डों को बाँधकर रखना हिन्दुओं के लिए तो पुण्य का कार्य निस्सन्देहात्मक रूप में है, तथापि यह मुस्लिम परम्परा का अंग कभी नहीं रहा। यदि इसका निर्माता कोई मुस्लिम बादशाह सचमुच ही होता, तो यह स्थल मस्जिद होता, न कि हिन्दू-देवताओं और हिन्दू-पण्डितों के परस्पर भेंट करने का आश्रय-स्थल। प्राचीन हिन्दू-देव-प्रतिमाएँ और वारिनाग का पुनरुद्धारित मन्दिर कभी वहाँ अस्तित्व में आ ही नहीं सकते थे। और भी, वारिनाग का नाम तो न जाने कब का गर्जनकारी अरबी भाषा में बदल दिया गया होता। ये समस्त विचार प्रदर्शित करते हैं कि इस स्थान पर किसी भी प्रकार का निर्माण-कार्य करने के स्थान पर अकबर और जहाँगीर ने तो यहाँ स्थित प्राचीन वारिनाग मन्दिर ध्वस्त किया जिसकी मूक साक्षी विद्यमान स्तम्भपीठ अभी भी दे रही है।

लिखित बनाम तथ्यात्मक साक्ष्य

हमारा मस्तिष्क एक बात के बारे में भी स्पष्ट होना चाहिए। मैं जिस प्रकार के साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ, हठी इतिहासकार उसका तिरस्कार यह कहकर करना चाहेंगे कि मैं तो केवल कपोल-कल्पनाएँ और तर्क-वितर्क कर रहा हूँ। वे तो तथाकथित लिखित साक्ष्य को लिये कोलाहल मचाते रहते

हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि उनको स्वयं पता नहीं है कि वे क्या विचित्र बात कह रहे हैं! प्रथम तो वे स्वयं इस बात के अपराधी हैं कि उन्होंने केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही, बिना किसी लिखित प्रमाण, यथा श्रम-भुगतान पत्रक, मुद्रित-लेख और दैनंदिन-व्यय के लेखाओं के अभाव में भी विभिन्न मध्यकालीन स्मारकों का निर्माण-यश विभिन्न मुस्लिम सुलतानों और बादशाहों को दे दिया है। कई बार उनको मुस्लिम शासकों के स्मृति-ग्रन्थों तथा मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों के तिथिक्रमवृत्तों में धूर्तता से समाविष्ट अंशों की नगण्य सहायता भी मिली है। ऐसे मुस्लिम लेखक बहुधा बादशाह द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। जिस प्रकार मुझे मालूम है कि उसी प्रकार हमारे समकालीन इतिहासवेत्ताओं को भी भली प्रकार ज्ञात है कि इन स्मृति-ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों के अनेक मूल पाठ उपलब्ध हैं जो परस्पर विरोधी हैं, और उनमें भी किसी-किसी स्मारक का मामूली-सा सन्दर्भ-मात्र दिया गया है। इतिहासवेत्ताओं को यह भी मालूम है कि ये तिथिवृत्त और स्मृति-ग्रन्थ कपोल-कल्पनाओं, अर्ध-सत्य, घोर वक्रोक्ति, दिवास्वप्नों और पाखण्डपूर्ण चापलूसी से भरे दावों के कारण कुख्यात हैं।

वास्तविक जीवन में जब हमारे सम्मुख संदिग्ध लिखित प्रमाण और उसके विरोधी तथ्यात्मक साक्ष्य की समस्या उपस्थित होती है, तब सदैव दूसरी बात का ही महत्त्व होता है। सार्वजनिक स्थान पर पड़े हुए एक मृतक-पिण्ड का उदाहरण लो। शव के साथ ही एक कागज़ पर उद्धृत वाक्य से स्पष्ट मालूम होता है कि मृत व्यक्ति ने आत्महत्या की है। वह कागज़ एक प्रकार से लिखित प्रमाण ही है। किन्तु क्या हमारे 'इतिहासवेत्ता' इसी पर निर्भर रहेंगे और मृत्यु के कारण का पता लगाना अस्वीकार कर देंगे, चाहे उस पिण्ड की पीठ में छुरा ही भोंक रखा हो? इस प्रकार के मामले में ऐसा तथाकथित लिखित प्रमाण निकृष्ट वस्तु समझकर फेंक दिया जाएगा, और उस मृत्यु की पड़ताल हत्या का मामला समझकर ही की जाएगी। यही सिद्धान्त मध्यकालीन स्मारकों पर भी लागू होता है, जो विद्रूप हो मृतक

पिण्ड की भाँति पड़े हैं और जिनके पूर्व-वृत्त संदिग्ध हैं। अतः परम्परा से बँधे हुए इतिहासवेत्ताओं को तथाकथित लिखित प्रमाण की अन्धश्रद्धा का सिद्धान्त नहीं अपनाना चाहिए। और जिस प्रकार का साक्ष्य मैं दे रहा हूँ उससे उत्तेजित हो, रुष्ट न होना चाहिए। उपर्युक्त स्पष्टीकरण उनको विश्वास दिला सकता है कि मेरे द्वारा दिया गया साक्ष्य किसी भी न्यायालय में निर्णायक निष्कर्ष के लिए उन लोगों द्वारा दिए गए निष्कृष्ट और मनगढ़न्त हल्के उल्लेखों के मुकाबले में सबल सिद्ध होगा। उन लोगों द्वारा दिए गए तर्क पिछली सारी शताब्दियों से चले आने पर भी निस्सार सिद्ध हुए हैं।

निशात और शालिमार

मेरे सिद्धान्त के लिए पोषक कुछ मूल विचारों की मीमांसा कर चुकने के पश्चात् मैं अब फिर कश्मीर के कुछ अन्य प्रमुख स्मारकों का वर्णन करूँगा। कश्मीर में निशात और शालिमार नाम से पुकारे जाने वाले दो मनोरम प्रकृति दृश्य-निर्माण उद्यान हैं। इतिहास ने भूल से उनका निर्माण-श्रेय मुग़लों को दिया है। निशात और शालिमार, (शालिमार्ग का अत्यल्प अपभ्रंश) दोनों ही, संस्कृत शब्द हैं। निशात का अर्थ है 'पूर्ण सुव्यवस्थित'। इस प्रकार, यह केवल उद्यानों के लिए ही व्यवहार में लाया जा सकता है। यह कश्मीर में प्रचलित विद्यमान हिन्दू-शीर्षनाम भी है जो बहु-प्रतिभाशील एवं सुसम्पन्न परिवार का द्योतक है। शालिमार्ग का अर्थ "साल-(धान) क्षेत्र में से अथवा ऊँचे-ऊँचे शालवृक्षों के मध्य से निकाला हुआ पर्वतीय मार्ग है।"

उद्यानों में सभी स्थानों पर निष्पक्षतापूर्वक स्तम्भपीठ का नमूना देखा जा सकता है जो इस बात का आभास देता है कि उद्यान क़िले-बन्दी में थे और ध्वस्त राजप्रासादों के अंश थे। उनके प्रवेशद्वार, प्राचीरें और कुछ फलकों पर दुर्ग की दीवारों के कुछ भाग अभी भी उभरे हुए वहाँ विद्यमान हैं। प्रवेशद्वार स्वलंकृत हिन्दू-शैली में हैं। इसके अतिरिक्त, सुदूर आगरा में अपनी शक्ति का केन्द्र रखने वाले मुग़ल लोग 700 मील दूर स्थित उद्यानों की सुन्दरता और शीतल मन्द-मन्द बयार का आनन्दोपभोग करने की किसी

प्रकार कल्पना भी नहीं कर सकते थे। साथ ही, रास्ता भी तो सघन वनों और दुर्गम पर्वतीय प्रदेश से जाता था। उस समय, जैसाकि आज आधुनिक व नु सेवाएँ उपलब्ध होने के पश्चात् भी है, कश्मीर की एक बार यात्रा ही केवल स्वप्नमात्र थी। किसी मुग़ल सम्राट् का अपनी समस्त सम्पत्ति, सम्बन्धियों और हरम को खुले संभाव्य आक्रमण की उपस्थिति में भी, निशात और शालिमार उद्यानों में कुछ घण्टे शीतलता में व्यतीत करने के अनिश्चित सुख के लिए उतनी सैकड़ों मील दूरी पर हाथी की मस्तानी चाल की गति से जाने की कल्पना करता भी परले दर्जे की बेवकूफ़ी है। समस्त जीवन में एक बार ही ऐसा कर पाना सम्भव होता होगा।

राजोचित निर्झर के द्योतक 'शाही चश्मा' के लिए भी यही तर्क लागू होता है। युगों से चले आ रहे हिन्दू-राजवंशों ने उस निर्झर का संरक्षण किया था; इसीलिए इसका उर्दू नाम 'शाही चश्मा' तो पुरातन संस्कृत नाम का केवल अनुवादमात्र है।

कश्मीर की प्रसिद्ध झील 'डल' का नाम भी संस्कृत-मूलक ही है। 'दल' का अर्थ पत्ता है और पल्लवगुच्छ का द्योतक है। डल झील में प्रवाहमान उद्यान और इसमें विपुल कमल-राशि यहाँ का स्थायी आकर्षण है—ये 'दल' नाम चरितार्थ करते हैं।

कश्मीर में अन्य अनेक मार्गों के नाम अभी भी शुद्ध संस्कृत में हैं। उदाहरणार्थ (स्वर्ण-मार्ग का द्योतक) सोनमर्ग और गुलमर्ग जो पहले गौरिमार्ग अर्थात् देवी गौरि का मार्ग कहलाता था। 'चन्दनवाड़ी' नाम भी शुद्ध संस्कृत नाम है।

यह सभी लोगों को यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि कश्मीर में जितने भी मध्यकालीन स्मारक आज मिलते हैं, वे सभी मुस्लिम-पूर्वकाल के राजपूत शासकों के बनाए हुए हैं। यदि मुस्लिमों ने उनको बनाया होता, तो उन लोगों ने उन स्मारकों के साथ कभी भी संस्कृत नाम न जोड़ा होता। साथ ही, मुस्लिम-दरबार के अभिलेखों में, इन स्मारकों के निर्माण से सम्बद्ध लिखित प्रमाण भी हमें अवश्य ही हाथ लगे होते।

इन इतिहासवेत्ताओं से, जो अभी भी उपर्युक्त तथ्यात्मक साक्ष्य तथा तर्कों की शक्ति और सार्थकता को अमान्य करते हैं, मैं कहना चाहता हूँ कि अच्छा होगा यदि वे स्वयं अपना हृदय टटोलें और बताएँ कि कहीं यह उनके व्यावसायिक कार्य छिन जाने या मुँह न दिखाने की बात तो नहीं है कि जिसके कारण लिखित प्रमाणों के तथाकथित साक्ष्य के अभाव में उनकी सत्य प्रतिभा पर भी पर्दा पड़ रहा है। वे स्वयं ही इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि इस या उस सुल्तान के पक्ष में दिये जाने वाले उनके परम्परागत दावे भी क्या किसी लिखित प्रमाण पर आधारित हैं।

इसके लिए भी कोई कारण नहीं है कि हम लिखित साक्ष्य के अभाववश तथा मुस्लिम तिथिवृत्तों की असत्यता के कारण निराशा और असहायावस्था का प्रदर्शन करें। इस प्रकार की सभी प्रकार की असहायावस्था का प्रकटीकरण हम उस समय तो कभी नहीं करते जब हमें किसी हत्या की जाँच-पड़ताल करनी हो, चाहे उसमें हमें हत्या का कोई भी सुराग हाथ न लगता हो। यह तो दैनंदिन का सामान्य अनुभव है कि इस प्रकार की हत्या के लिए हत्यारों को प्रबल और अकाट्य परिस्थिति-साक्ष्य के आधार पर दण्ड दे दिया जाता है। यह सिद्ध करता है कि जब भी कभी हमारे सम्मुख लिखित प्रमाणों की असत्यता, उनका अभाव या उनका विनाश हो जाने की समस्या आ उपस्थित होती है, तब हम परिस्थिति-साक्ष्य की सहायता से अविवादेय निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यथार्थतः चूँकि भारतीय इतिहास के विद्वानों ने न्यायिक जाँच-पड़ताल के इस सुदृढ़ और पूर्णरूपेण अनुभूत प्रकार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, इसीलिए भारतीय मध्यकालीन इतिहास असंख्य असंगतियों, परस्पर विरोधी बातों, बेहूदगियों और समस्याओं से भरा पड़ा है।

दिल्ली स्मारक

अनेक शताब्दियों से यह विश्वास दिलाकर, कि दिल्ली के मध्यकालीन स्मारक उनके मुस्लिम-बादशाहों ने बनवाए थे, इतिहासवेत्ताओं और उनके द्वारा सामान्य जनता की अनेक पीढ़ियों को पूर्ण रूप से ठगा गया

है। मुस्लिमों ने ये स्मारक, निश्चित ही, नहीं बनाए थे। सभी स्मारक मुस्लिमपूर्व युग से सम्बन्ध रखते हैं, और दिल्ली के मुस्लिम-पूर्व क्षत्रिय राजाओं द्वारा बनाए गए थे। मुस्लिम शासकों और फ़कीरों की कब्रों को समेटे हुए मकबरे और दरगाहें भी पूर्वकालिक हिन्दू राजप्रासाद और मन्दिर ही हैं जो छद्मरूप में कब्रिस्तानों में बदल दिए गए हैं।

इन स्मारकों का श्रेय मध्यकालीन मुस्लिम शासकों को देने में, इतिहासवेत्ता कनसुनी बातों या भयंकर भूल करने वाले ब्रिटिश अधिकारियों अथवा अन्य देश-प्रेमी मुस्लिम तिथिवृत्त लेखकों के द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे हैं। यदि उन्होंने इन कथनों को परिस्थिति साक्ष्य के आधार पर सत्यापित कर लेने की सामान्य सावधानी भी बरती होती, तो हमें यह घोटाला नहीं मिलता जो सरकारी अभिलेखों और इतिहास के पाठ्य-ग्रन्थों में बहुत गहरा घुस चुका है।

दिल्ली-स्थित कुछ प्रमुख स्मारकों की समीक्षा पाठकों को यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए कि ये भवन मुस्लिम-आक्रमणों के प्रारम्भ होने से पूर्व भी विद्यमान थे। तथ्य यह है कि जो स्मारक आज हम देख पाते हैं वे तो उस विपुल स्थापत्य कला की विशाल सम्पत्ति के लेशमात्र अंश हैं जो भारत में मुस्लिमों आक्रमणों से पूर्व अस्तित्व में थे। तथ्य रूप में इन अति भव्य भवनों और मन्दिरों की विपुलता ही आक्रमणकारियों के लिए एक बहुत बड़ा आकर्षण रही थी।

लाल-क़िला

आइए, हम लाल-क़िले से अपना समालोचनात्मक अध्ययन प्रारम्भ करें। 'पृथ्वीराज रासो' नामक समकालीन ग्रन्थ से हमें ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज यमुना नदी के तट पर बने एक राजमहल में रहता था। परम्परागत लेखे भी हमें बताते हैं कि पृथ्वीराज का महल लाल-कोट अर्थात् लाल दीवारों की संरचना के नाम से विख्यात था। इन दोनों विवरणों का पूर्णोत्तर हमें आज दिल्ली के एकमात्र उस भवन से मिलता है जो आज लाल-क़िला

कहलाता है। और आज फिर भी मुग़ल बादशाह शाहजहाँ को दिल्ली का लाल-क़िला बनाने का सम्पूर्ण यश व्यर्थ में दिया जा रहा है।

शाहजहाँ से लगभग 250 वर्ष पूर्व सन् 1398 में दिल्ली-निवासियों का नर-संहार करने वाले तैमूरलंग ने पुरानी दिल्ली का उल्लेख किया है। और फिर भी हमारे इतिहास-ग्रन्थों में पुरानी दिल्ली का वर्णन उस नगरी के रूप में आता है जिसकी स्थापना शाहजहाँ ने की थी। दिल्ली में लाल-क़िला पुरानी दिल्ली का नाभीय-स्थल है। तथ्य रूप में, पुरानी दिल्ली धुरीय-मार्ग—चाँदनी चौक मार्ग जो लाल-क़िले को उस भवन से जोड़ता है जो आज फ़तहपुरी मस्जिद कहलाता है किन्तु जो दिल्ली के हिन्दू-शासकों के कुल-देवता का मन्दिर था—के चारों ओर बसी है। इस प्रकार, शाहजहाँ से 400 वर्ष पूर्व भी, लाल-क़िले और अपने प्रमुख बाज़ार चाँदनी चौक सहित पुरानी दिल्ली निश्चित रूप में ही अस्तित्व में थी।

क़िले के पिछले भाग में प्रवाहित यमुना-तट राजघाट पुकारा जाता है। यह संस्कृत शब्द है। यह अभी तक प्रचलित न रहता यदि राजाओं की अनेक पीढ़ियों ने शाहजहाँ और उसके अनुवर्ती मुस्लिमों से पूर्व लाल-क़िले में आवास न रखा होता। मुग़लवंश के पाँचवें बादशाह शाहजहाँ के पश्चात् किसी भी राजा ने लाल-क़िले से देश में शासन नहीं किया। यदि शाहजहाँ ने क़िला बनाया होता, तो पिछली ओर यमुना का तट राजघाट न कहलाकर बादशाह घाट के नाम से पुकारा गया होता।

क़िले के एक द्वार पर बाहर की ओर एक हाथी की मूर्ति चित्रित है। इस्लाम किसी भी प्रकार का मूर्तिकरण कठोरतापूर्वक मना करता है, जबकि राजपूत सम्राट गजों के प्रति अपने प्रेम के लिए सुविख्यात हैं।

क़िले की मेहराबों के दोनों ओर प्रस्तर-पुष्पक लक्षण हैं जो सभी मध्य-कालीन हिन्दू भवनों पर दृष्टव्य हैं।

प्रवहमान जल प्रवाहिकाएँ, जिनमें से यमुना का जल सम्पूर्ण क़िले में कलकल-निनाद करता बहता था, फिर राजपूत-निर्माण की पुष्टि करते हैं क्योंकि रेगिस्तानी परम्परा वाले मुस्लिमों ने प्रवाहमान जल प्रवाहिकाओं की

कभी कल्पना भी न की होगी।

श्रावण-भादों दर्शक-मण्डप एवं दीवाने खास में केशर-कुण्ड फिर हिन्दू शब्दावली है। राजपूत क्षत्रीय शासक केशर-जल से स्नान करते थे। साथ के कमरे के फर्श पर हिन्दुओं में पूज्य कमल पुष्प बना है।

दीवानेखास और दीवानेआम में एक भी गुम्बद या मीनार नहीं है, जिस पर मुस्लिम सदैव बल देते रहे। दीवानेआम की संगमरमरी व्यास पीठ में, जिस पर बादशाह बैठा करता था, मन्दिर के प्रकार की छत है जिसके निच्यावाश्म प्रकार के दो सिरे त्रिर्यक् रूप में जुड़े हुए हैं। दीवानेखास में अम्बर (पुराना जयपुर) के भीतर के राजोचित भाग से अत्यधिक विस्मयकारी समानता है। अम्बर (आमेर) राजपूतों द्वारा मुस्लिम-पूर्व काल में बनाया गया था।

'स्मृति-ग्रन्थों' एवं तिथिवृत्तों के उल्लेखानुसार प्रत्येक मुग़ल शासक का 5000 स्त्रियों का हरम होता था। वे सब, स्वयं शासक और उनके अनेक बाल-बच्चे किसी भी प्रकार कल्पना किए जाने पर दीवानेखास से संलग्न दो-तीन कमरों में समा ही नहीं सकते थे।

दीवाने-खास के निकट संगमरमर के जंगले पर राजा की न्याय-तुला का चित्र अंकित है। अपनी प्रजा के 99 प्रतिशत भाग को नीच व्यक्ति समझाने वाले मुग़ल शासक अपने राजमहल में न्याय के उस चिह्न को अंकित करने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। किन्तु ब्राह्मणों द्वारा उपदेशित राजपूत शासक अवश्य ही न्याय-तुला के चित्र से प्रेरणा लेकर न्याय प्रदान करना अपना एक प्रमुख कर्त्तव्य समझा करते थे।

दीवाने-खास और दीवाने-आम में मण्डप शैली की अलंकृत हिन्दू कलाकृति है। इसके अतिरिक्त, दीवाने-खास सन् 984 ई० के आस-पास निर्मित अम्बर (आमेर—पुराना जयपुर) के भीतरी महल से अत्यधिक मिलता-जुलता है।

दीवाने-खास की एक दीवार पर खुदी हुई फ़ारसी की पंक्तियों में लिखा है कि यह स्थान 'पृथ्वी पर स्वर्ग' है। इस प्रकार की डींग केवल

बलात् अधिग्रहण करने वाला ही हाँक सकता था। यदि शाहजहाँ इस भवन का मूल निर्माता रहा होता, तो वह कभी भी इस प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दावली में वर्णन न करता। मूल निर्माता तो प्रायः रचना के सम्बन्ध में संकोचशील होता है। और भी बढ़कर बात यह है कि भवन के दोषों के सम्बन्ध में निर्माता इतना सजग होता है कि वह कभी भी ऐसे निर्माण को 'पृथ्वी पर स्वर्ग' कहने की कल्पना कर ही नहीं सकता।

लाल-क़िले से आगे बढ़ने पर, केवल कुछ गज़ की दूरी पर, हम देखते हैं कि निकटतम दोनों देवालय ग़ैर-मुस्लिमों के ही हैं। इनमें से एक लाल जैन-मन्दिर और दूसरा गौरीशंकर मंदिर हैं। यदि शाहजहाँ ने लाल-क़िला बनाया होता तो वह कभी भी इन दोनों ग़ैर-मुस्लिमों के देवालयों को बने रहने की अनुमति न देता। ये दोनों मन्दिर इन स्थानों पर इसीलिए हैं कि शाहजहाँ से शताब्दियों पूर्व राजपूतों ने यह लाल-क़िला बनवाया था।

लाल-क़िले से निकलता हुआ मुख्य बाज़ार चाँदनी चौक मूल रूप में केवल हिन्दुओं से ही घिरा हुआ है। यदि मुगलों ने यह क़िला बनवाया होता तो चाँदनी चौक में तुर्कों, अफ़गानों, फ़ारसी लोगों, अरबों, अबीसीनियों, हिन्दू धर्म-परिवर्तितों के ही आवास होते, हिन्दुओं के नहीं।

समस्त पुरानी दिल्ली की जनसंख्या अधिकांशतः हिन्दू ही है। इसकी संलिष्ट एवं घुमावदार गलियों में मकान भी परम्परागत हिन्दू-शैली में ही बने हुए हैं। यह मानना बेहूदी बात है कि शाहजहाँ जैसे क्रूर धर्मान्ध व्यक्ति के हिन्दुओं के लिए मकान बनवाए और समस्त नगर की विशाल दीवार में क़िलेबन्दी की। जैसाकि तैमूरलंग की आत्मकथा में कहा गया है, पुरानी दिल्ली शाहजहाँ से शताब्दियों पूर्व अस्तित्व में थी।

इतने विपुल प्रमाणों के विरुद्ध, यदि शाहजहाँ के स्मृतिग्रन्थों के परस्पर विरोधी तथा मनघड़न्त रूपान्तरों में शाहजहाँ द्वारा किसी क़िले या नगर की स्थापना के स्थूल में सन्दर्भ मिल जाएँ तो इतिहासवेत्ताओं को तुरन्त ही उस दावे को निराधार और अप्रामाणिक घोषित कर देना चाहिए।

मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासवृत्तों में 'अरेबियन नाइट्स' की गन्ध

आती है। वे तिथिवृत्त सार्वभौमाधिकारी या संरक्षक सरदार का मनोविनोद करने और उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए लिखे गए परियों के कथानक हैं तथा पूर्णतः काल्पनिक हैं। रात्रि में शयन-पूर्व बच्चों को बिस्तरे पर लेटे-लेटे कहानियाँ सुनाते समय जैसे किसी भव्य जादू-महल की सामग्री की कल्पना हम स्वयं ही करने लगते हैं, वैसे ही ये तिथिवृत्त भी कल्पनापूरित हैं। मुस्लिम बादशाहों के स्मृति-ग्रन्थों पर टीका करते हुए सर एच०एम० इलियट और प्रोफेसर जॉन डॉसन ने बार-बार सावधान किया है कि उन स्मृति-ग्रन्थों में उन सभी बातों का समावेश है जो उस बादशाह या चाटुकार लेखक ने विचारा कि अमुक-अमुक बात सार्वजनिक जानकारी में आनी ही चाहिए। मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों की अपनी अष्ट-खण्डीय समीक्षा में स्वर्गीय सर एच० एम० इलियट ने लिखा है कि भारत में मुस्लिम काल का इतिहास 'निर्लज्जतापूर्वक किया गया रोचक कपटजाल है।'

दिल्ली के अगणित स्मारकों के सम्बन्ध में ध्यान रखने वाली एक विचित्र बात यह है कि इतने सारे मकबरे और दरगाहें हैं किन्तु उन्हीं के अनुरूप महल नहीं हैं। हमें हुमायूँ का मकबरा, खानखाना का मकबरा, नजफ़खान का मकबरा, लोदी का मकबरा, अलाउद्दीन ख़िलजी का मकबरा, सफ़दरजंग का मकबरा, बख़्तियार काकी का मकबरा, निजामुद्दीन का मकबरा और ऐसे ही अन्य मकबरे मिलते हैं।

इतिहास के सभी विद्यार्थी भली-भाँति जानते हैं कि मुस्लिम उत्तराधिकार-ग्रहण करने के लिए भ्रातृघातक और पितृघातक रक्तपात सदैव हुआ है। इस प्रकार की परिस्थिति में क्या यह कल्पना भी की जा सकती है कि अपने पूर्ववर्ती के लहू का आजीवन प्यासा रहने वाला अनुवर्ती अपने घृण्य पूर्ववर्ती की मृत्यु के पश्चात् भव्य मकबरा बनवाएगा? और क्या ऐसा भी सम्भव हो सकता था कि जो आदमी आजीवन अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए कोई महल न बनाए, वही आदमी अपने पूर्ववर्ती के लिए भव्य महल बनाए और इसी क्रमानुसार उसको भी अपनी मृत्यु के पश्चात् एक भव्य मकबरा अपने अनुवर्ती द्वारा मकबरे के रूप में प्रयोग करने के लिए

मिल जाए? क्या उनके मध्य मकबरा-निर्माण का कोई समझौता हो गया था! अपने मृतक पूर्वज के लिए भव्य मकबरा बनाने की सोचने से पूर्व सिंहासनारूढ़ बादशाह अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए सैकड़ों महल बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में आ जाना चाहिए कि संयोज्य महलों के अभाव में भी इतने सारे मकबरे इसीलिए उपलब्ध हैं क्योंकि मुस्लिम बादशाहों ने न तो मकबरे ही बनवाए और न ही राजमहल।

तथाकथित कुतुबमीनार

कुतुबमीनार के सम्बन्ध में भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कुतुबमीनार एक ऐसा हिन्दू-स्तम्भ है जो कुतुबुद्दीन से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, और इसलिए, इस स्तम्भ का निर्माण-श्रेय कुतुबुद्दीन को देना गलत है।

कुतुबमीनार के पार्श्व में बसी हुई नगरी महरौली कहलाती है। यह संस्कृत शब्द 'मिहिरावली' है। यह उस नगरी का द्योतक है जहाँ सम्राट विक्रमादित्य के दरबार का विश्वविख्यात ज्योतिषी मिहिर अपने सहायकों, गणितज्ञों और तकनीक विशेषज्ञों के साथ रहा करता था। वे इस तथाकथित-कुतुबमीनार का उपयोग नक्षत्र-विद्याध्ययन के लिए वेध-स्तम्भ के रूप में किया करते थे। इस स्तम्भ के चारों ओर हिन्दू राशिमण्डल के 27 तारकपुञ्जों के मण्डल बने हुए थे।

कुतुबुद्दीन एक ऐसा उत्कीर्ण अंश छोड़ गया है जिसके अनुसार उसने इन 27 मण्डपों को ध्वस्त किया। किन्तु उसने ऐसा कहीं नहीं कहा कि उसने किसी स्तम्भ का निर्माण भी किया था।

इस तथाकथित कुतुबमीना से वि-स्थान हुए पत्थरों की एक ओर हिन्दू देवमूर्तियों और दूसरी ओर अरबी के अक्षर खुदे हुए हैं। उन पत्थरों को अब संग्रहालय में ले जाया गया है। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि मुस्लिम आक्रमणकारी लोग हिन्दू भवनों की प्रस्तर-सज्जा को हटाकर उसके ऊपर

अंकित चित्रादि को भीतर की ओर मोड़कर, बाहर की ओर दिखने वाले अंश पर अरबी भाषा के अक्षरों की खुदाई कर दिया करते थे।

अनेक खम्बों और दीवारों पर संस्कृत शब्दावली अभी भी परिलक्षित की जा सकती है। यद्यपि विद्रूप हो चुकी है तथापि भित्ति-शृंग में अभी भी अनेक देवमूर्तियाँ शोभायमान हैं।

यह स्तम्भ चहुँ ओर की गई निर्माण-संरचनाओं का एक अंश निश्चित रूप में ही है। ऐसी बात नहीं है कि पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों के बीच में पर्याप्त खुला स्थान इसलिए था कि कुतुबुद्दीन आए और एक स्तम्भ बनाए। इसकी दर्शनीय अलंकरण हिन्दू शैली सिद्ध करती है कि यह एक हिन्दू-स्तम्भ है। मस्जिद की मीनारों का धरातल सपाट होता है। जो लोग यह तर्क देते हैं कि इस स्तम्भ की रचना तो मुस्लिम निवासियों को प्रार्थना के लिए बुलाने के उद्देश्य से आवाज़ देने के लिए हुई थी, उन लोगों ने कदाचित् ऊपर जाकर नीचे खड़े व्यक्तियों को पुकारने का भी प्रयत्न किया हो, ऐसा लगता नहीं। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो उनको स्वयं ही ज्ञात हो जाता कि उस ऊँचाई से कोई भी व्यक्ति, जो पृथ्वी पर खड़ा हो, वह शब्द सुन ही नहीं सकता। पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों को मुस्लिम-निर्माण-कृति ठहराने के लिए ऐसे बेहूदा दावे किए जा रहे हैं!

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात यह है कि स्तम्भ का प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर है न कि पश्चिम की ओर जैसाकि इस्लामी मान्यता और अभ्यासानुसार आवश्यक रहा है।

प्रवेश-द्वार के दोनों ओर ही प्रस्तुत पुष्प-चिह्न है; ये भी सिद्ध करते हैं कि यह हिन्दू-भवन है। मध्यकालीन भवनों की हिन्दू-निर्माण संरचना में प्रस्तर पुष्पों की विद्यमानता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है। अपनी बनाई हुई इमारतों में मुस्लिम लोग ऐसे पुष्प कभी नहीं रखते।

स्तम्भ के ऊपर कार्निस के ठीक नीचे के भाग में नमूनों पर तोड़-फोड़, अकस्मात् समाप्त करने अथवा असंगत पंक्तियों को असम्बद्ध रूप में मिला देने के स्पष्ट चिह्न हैं। अरबी-शब्दावली क्षतिग्रस्त अधोमुखी कमल

की कलियों से अन्तःकीर्णित है। कट्टर मुस्लिम और विद्वान् सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया है कि यह स्तम्भ हिन्दू-भवन है।

पार्श्वस्थ तथाकथित कुवत-उल्-इस्लाम का मेहराबयुक्त प्रवेशद्वार गुजरात के मन्दिरों के अलंकृत मेहराबों से युक्त द्वारों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। इस भवन के स्तम्भ के ऊपर कार्निस के ठीक नीचे के भाग में नमूनों में भी तोड़-फोड़ के चिह्न स्पष्ट हैं जो सिद्ध करते हैं कि पूर्वकालीन मन्दिरों को मुस्लिमों के उपयोग में लाने के लिए मस्जिदों का रूप देने में पत्थरों को इधर-उधर करने में मुस्लिम शासकों को बड़ी हार्दिक शान्ति मिलती थी।

स्तम्भ का घेरा ठीक 27 मोड़ों, चापों और त्रिकोणों का है। ये एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद पहला—इस क्रम से हैं। यह प्रकट करता है कि इस क्षेत्र में 27 के अंक का विशेष महत्त्व तथा उसकी प्रधानता रही है। पहिले ही वर्णित 27 तारकपुंजों के मण्डपों के साथ इस पर विचारोपरान्त कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि यह स्तम्भ भी नक्षत्रीय वेधस्तम्भ ही था।

'कुतुबमीनार' अरबी शब्द नक्षत्रीय (वेधशास्त्र) स्तम्भ का द्योतक है। सुल्तान कुतुबुद्दीन से इसको सम्बद्ध करने और दरबारी पत्राचार में इसके नामोल्लेख की यही कहानी है। समय व्यतीत होते-होते कुतुब-स्तम्भ के साथ कुतुबुद्दीन का नाम अनायास ही संलग्न हो गया, जिसने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि कुतुबुद्दीन ने कुतुबमीनार बनवाई।

स्तम्भ की संरचना में शिलाखण्डों को दृढ़ता से एक स्थल पर रखने के लिए लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त की गई हैं। आगरा-दुर्ग की प्रस्तर-प्राचीरों में भी इसी प्रकार की लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त हुई हैं। अपनी पुस्तक 'ताजमहल राजपूती राजप्रासाद था' में मैंने क़िले के मूल के सम्बन्ध में विशद विवरण प्रस्तुत किया है और यह सिद्ध किया है कि यह मुस्लिम-पूर्व काल में भी विद्यमान था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े भवनों में विशाल शिलाखण्डों को सुदृढ़तापूर्वक एकत्र रखने के लिए हिन्दू लौह-पट्टियाँ

उपयोग में लाना हिन्दू प्राकार था। उस प्राकार का दिल्ली की तथाकथित कुतुबमीनार में उपयोग होना इस स्तम्भ को मुस्लिम-पूर्वकाल का सिद्ध करने वाला एक अन्य प्रमाण है।

निजामुद्दीन दरगाह

जिसे आज फ़कीर निज़ामुद्दीन की दरगाह समझा जाता है, यह वास्तव में एक पुराना मन्दिर है, जो मुस्लिम आक्रमणों में क्षतिग्रस्त हो जाने के बाद हज़रत निज़ामुद्दीन की दरगाह बन गया, क्योंकि उस फ़कीर को उसकी मृत्यु के पश्चात् वहीं दफ़ना दिया गया था।

इस दरगाह के चारों ओर अगणित मात्रा में अन्य मण्डप, प्राचीरें, कब्रें, दुर्ग की दीवार के उभड़े हुए भाग, स्तम्भ, स्तम्भपीठें अभी भी देखी जा सकती हैं। ये वस्तुएँ सिद्ध करती हैं कि यह किसी समय समृद्ध नगरी थी जो पदाक्रान्त हुई और विजित हुई। ऐसे तहस-नहस किए गए क्षेत्रों में मुस्लिम फक़ीर जा बसते थे। बाद में उनको वहीं गाड़ दिया जाता था, जहाँ वे रहते रहे थे। इस प्रकार मुस्लिम फ़कीरों को दफ़नाने के स्थान मूल कब्रिस्तान नहीं हैं, अपितु वे पूर्वकालीन राजपूत भवन हैं जो बाद में मुसलमानों द्वारा बलात् हथिया लिये गए।

हुमायूँ का मकबरा

नई दिल्ली में तथाकथित 'हुमायूँ का मकबरा' ऊपर वर्णित विशाल नगरी का अंश था। यह उस नगरी का केन्द्रीय राजप्रासाद था। आजकल भी यह उस भाग का अंश है जिसे नयी दिल्ली स्थित जयपुर-राजसम्पत्ति कहा जाता है। आज अरब-की-सराय नाम से पुकारा जाने वाला भाग तथाकथित हुमायूँ के मकबरे के चहुँ ओर विशाल सुरक्षात्मक संरचना थी। हुमायूँ वहीं रहा करता था। पुराने क़िले स्थित तथाकथित शेर-मण्डल की सीढ़ियों से जब गिर पड़ा, तो उसे इसी स्थान पर लाया गया जो केवल आधा मील दूरी पर ही था। अपनी मृत्यु तक वह इसी राजप्रासाद में पड़ा रहा। जैसा उन दिनों

का नित्यप्रति का अभ्यास था, उसे उसी राजप्रासाद में दफ़ना दिया गया, जिसमें वह रहता था।

फिरोजशाह कोटला

दिल्ली-द्वार के सम्मुख क्रीड़ा-प्रांगण के निकट एक प्राचीन क़िलेबन्दी में एक बस्ती है जिसे फिरोज़शाह कोटला कहा जाता है। इसके नाममात्र से ही, भूल से यह मान लिया गया कि अपने महल के रूप में इसका निर्माण फिरोज़शाह तुग़लक ने किया था। किन्तु उनकी ऊपरी मंजिल में एक अशोक-स्तम्भ दृढ़तापूर्वक गड़ा हुआ है। अपने क्रूर स्वभाव के लिए फिरोजशाह पहिले ही कुख्यात था। वह 'हिन्दू' नाम की किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता था। इतिहास में उल्लेख है कि मूर्तिपूजा के अपराधियों को वह जीवित जला दिया करता था। यह विश्वास करना नितान्त तर्कहीन है कि इस प्रकार का शासक स्वयं अपनी ही इच्छा से, अपने ही राजमहल में हिन्दू धर्मोपदेशों से उत्कीर्ण एक अशोक-स्तम्भ गड़वा लेगा! इसकी छाया में फिरोज़शाह को कभी नींद आ ही नहीं सकती थी। तथ्य यह है कि स्तम्भ का कटा हुआ शीर्ष भाग दर्शाता है कि अपने धर्मान्ध रोष में फिरोज़शाह ने इस स्तम्भ को उखाड़ फैंकने का यत्न अवश्य किया होगा। किन्तु स्पष्ट है कि इससे समस्त महल ही नष्ट हो गया होता और इस महल की छत के निचले भाग में एक बहुत बड़ा छेद बन जाता। हताश हो, उसे इसी ऊँचा सिर किए काफ़िर-स्तम्भ सहित महल में रहना पड़ा जो उसे अस्थिरता, विद्रोह और अनवरत संघर्ष के दिनों में एक उपयुक्त स्थान प्रतीत हुआ।

उसके शासन का एक अतिरंजित वर्णन शम्से-शीराज़-अफ़ीफ-नामक, स्वयं नियुक्त, एक चाटुकर तिथि-वृत्तकार ने लिखा है। वह स्वीकार करता है कि उसका पितामह फिरोज़शाह का समकालीन था। अफ़वाहें फैलाने वालों के नित्याभ्यास की ही भाँति वह भी कल्पित और अतिरंजित वर्णनों के लिए जिन अधिकारिक स्रोतों का उल्लेख करता है उनमें "मेरे पिता ने मुझे बताया" अथवा सुविज्ञ इतिहासज्ञों के आधार पर मैं कहता

हूँ.....'' आदि अनेक वाक्य भरे पड़े हैं। उस तिथिवृत्त में वह कल्पना करते हुए वर्णन करता है कि किस प्रकार दिल्ली से अति दूरस्थ स्थान पर प्राप्त इन दो अशोक-स्तम्भों को उखाड़कर और सैकड़ों गाड़ियों और हजारों मज़दूरों को नियुक्त कर इन सबको दिल्ली तक ढोने का कठोर परिश्रम फिरोज़शाह ने किया। दिल्ली में अपने महल में एक काफ़िर-स्तम्भ को गड़वाने का क्या प्रयोजन था, यह तो केवल खुदा को ही मालूम है। स्पष्टतः यह वर्णन इस तथ्य को झुठलाने का एक यत्न है कि फिरोज़शाह को अपने निवासस्थान के लिए वह भवन चुनना पड़ा जिसमें अशोक-स्तम्भ गड़ा हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि या तो स्वयं महाराजा अशोक ने मूल रूप में यह महल बनवाया जो आज छद्मरूप में कोमलकान्त पदावली में फिरोज़शाह कोटला कहलाता है, अथवा अशोक के ऊपर स्वाभिमान अनुभव करने वाला कोई परवर्ती क्षत्रिय सम्राट् उस स्तम्भ को उखड़वाकर दिल्ली ले आया और उसने अपने महल में उस स्तम्भ को स्थापित करवा लिया। बाद में जब फिरोजशाह ने दिल्ली में शासन किया तब उसने उसी महल को, उन संघर्षमय दिनों में कदाचित् सभी स्थानों से बढ़िया आकार का प्राप्त कर, अपना निवास स्थान बना लिया। उसके तिथिवृत्तकार अफ़ीफ ने, इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण न पाकर कि फिरोज़शाह ने एक बलात् अधिगृहीत भवन में निवास किया, इस भ्रम की सृष्टि कर दी कि यह तो फिरोज़शाह ही था जो उस स्तम्भ को दूर से लाया और जिसने उसको अपने महल में गड़वाया था।

लोधी मकबरे

इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों की दृष्टि से ओझल हो जाने वाली भयंकर विसंगतियों का एक उदाहरण दिल्ली के लोधी मकबरे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने भी कभी यह प्रश्न पूछने की चिन्ता नहीं की कि मृत शासकों के भव्य मकबरे आज क्यों कर उपलब्ध हैं, जबकि उन्हीं के अनुरूप, शासनकर्ता लोधी शासकों के ऐश्वर्यशाली और विशाल राजमहल कहीं भी नहीं मिलते? यदि इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों ने कभी यह

प्रश्न स्वयं की अन्तरात्मा से किया होता, तो उनको इस प्रश्न का पूर्ण समाधान प्राप्त हो गया होता। तथ्य यह है कि तथाकथित मकबरे पुराने राजपूती भवन हैं जिनको बाद में मृतक-स्थानों (मकबरों आदि) में बदल दिया गया।

रोशन आरा मकबरा

दूसरा उदाहरण दिल्ली में रोशन आरा मकबरे का है। स्थूल रूप से दृष्टिपात करने पर ही विश्वास हो जाएगा कि यह एक राजपूती संरचना है जिसे अपनी मृत-पुत्री को दफ़नाने के लिए औरंगज़ेब ने बलात् छीन लिया। इसके कलात्मक रूप में खुदे हुए स्तम्भ तथा किसी भी प्रकार की गुम्बदों अथवा मीनारों से विहीन विशाल खुले मण्डप सभी प्रकार आँखें खोलने वाले हैं। इस सम्बन्ध में औरंगज़ेब का विशिष्ट चरित्र भी ध्यान रखना चाहिए। वह अति कृपण और निर्मम रूप में पाषाण हृदय व्यक्ति था। उसने अपने पिता को कारावास में रखा, राजसिंहासन ज़बर्दस्ती हथिया लिया और निष्ठुरतापूर्वक अपने भाइयों को मार डाला। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सर्वाधिक निष्ठुरतापूर्ण था। ऐसा बादशाह अपनी पुत्री के लिए हिन्दू-रचना-शैली का मकबरा कभी नहीं बनवा सकता, और इसीलिए रोशन आरा मकबरा एक राजपूती मण्डप है जो मकबरे में बदल दिया गया है।

निजामुद्दीन

दिल्ली में निजामुद्दीन का मकबरा कहलाने वाली इमारत का एक अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इस पर पंचरत्न के पाँच गुंबज हैं। हिन्दुओं में गाँव के पंच, पंचामृत, पंचगव्य आदि वाक्प्रचार से पाँच का महत्व जाना जा सकता है। इमारत गेरुए रंग के पत्थर की बनी है जो हिन्दू ध्वज का रंग है। अन्दर एक विशाल बावड़ी है। उसके तले में वे हिन्दू मूर्तियाँ पड़ी मिलेंगी जो इस्लामी हमलावरों ने मन्दिर से उखाड़कर उसमें फिंकवा दीं। पीढ़ियों से उस इमारत से संलग्न फकीर, मुल्ला, मुजावर आदि तथाकथित मुसलमानों

को यह समझ लेना चाहिए कि उनके दादे-परदादे उसी मन्दिर के पुजारी आदि हिन्दू कर्मचारी रहे हैं जिसे वे आज निज़ामुद्दीन की कब्र समझ रहे हैं। यदि जीवित निज़ामुद्दीन का कोई महल नहीं था तो निजामुद्दीन के मृत शरीर के लिए महल कौन बनाएगा ?

आगरा-स्थित स्मारक

ताजमहल

इस प्रचलित धारणा के पक्ष में, कि ताजमहल शाहजहाँ ने बनवाया था, हमें केवल तीन कारण मिलते हैं। उनमें भी कुछ विशिष्ट सन्देह विद्यमान था—

(1) हम मानते हैं कि ताज के केन्द्रीय कक्ष में दो मृतकों की मृद्राशियाँ हैं जो मुस्लिम कब्रों जैसी दिखाई देती हैं, और पूर्ण संभावना है कि वे दोनों स्वयं शाहजहाँ की और उसकी हज़ारों रखैलों में से एक मुमताज महल की हो। इतना स्वीकार कर लेने के बाद हम अपनी आपत्तियों पर विचार करेंगे। यह सर्वविदित है कि इस प्रकार की अनेक मृद्राशियाँ केवल ढोंग-मात्र हैं। इस प्रकार की मृद्राशियाँ अनेक बार ऐतिहासिक भवनों के उन समतल टीलों पर भी पाई गई हैं, जहाँ किसी भी प्रकार, किसी भी मृत व्यक्ति को गाड़ना सम्भव ही नहीं था। दूसरा सन्देह यह है कि मुमताज़ को दफ़नाने की कोई निश्चित तिथि उपलब्ध न होने के कारण अत्यधिक सम्भव है कि वह इस ताजमहल में गाड़ी ही न गई हो। उसको दफ़नाने की अवधि उसकी मत्युपरान्त छः मास से नौ वर्ष के मध्य कही जाती है। जिसके मृतपिंड के लिए ताजमहल जैसा भव्य स्मारक बना कहा जाता हो, उसकी दफ़न-तिथि के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनिश्चितता अत्यधिक संशयकारी है। औरंगजेब के काल में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की सेवा में नियुक्त मनूषी नामक एक अधिकारी ने लिखा है कि अकबर का मकबरा खाली है।

इसलिए कौन कह सकता है कि मुमताज का काल्पनिक मकबरा भी खाली न हो ? इस प्रकार की प्रबल आपत्तियाँ होने पर भी, हम यह मानने को तैयार हैं कि ये दो कब्रें मुमताज़ और शाहजहाँ की हो सकती हैं।

(2) परम्परागत ताज-कथा के पक्ष में दूसरी बात यह हो सकती है कि कब्रों तथा कुछ मेहराबों पर कुरान के पाठ उत्कीर्ण हैं। इस सम्बन्ध में हमारी प्रबल आपत्ति यह है कि अजमेर-स्थित अढ़ाई दिन का झोंपड़ा और दिल्ली की तथाकथित कुतुबमीनार दोनों के ही बाह्य-भागों पर इस प्रकार के उत्कीर्णांश उपलब्ध हैं, किन्तु वे तो छद्मरूप माने ही जाते हैं। अतः ताज पर खुदाई-कार्य का केवल संशयात्मक-मूल्य ही है।

(3) प्रचलित वर्णन—कि शाहजहाँ ने ताजमहल बनवाया—के पक्ष में तीसरी बात यह है कि मुल्ला अब्दुल हमीद लाहौरी जैसे कुछ तिथिवृत्तकारों ने अपने ग्रन्थों में ताज-निर्माण का उल्लेख किया है। इस विषय में हमारी आपत्तियाँ अनेक हैं। मुल्ला अब्दुल हमीद जैसे तिथि-वृत्तकार प्रायः ऐसे व्यक्ति थे जो क्रूर धर्मान्ध व्यक्तियों की सेवा में रहते हुए उनकी चापलूसी और उनका मनोरंजन करते हुए अपनी आजीविकोपार्जन करने में रुचि रखते थे। दूसरी बात यह है कि यह अभिलेख उपलब्ध है कि मुल्ला अब्दुल हमीद को शाहजहाँ का यह विशिष्ट अनुदेश मिला था कि उसके द्वारा आदेशित तिथिवृत्त में वह ताज-निर्माण (?) का वर्णन करना न भूले। यह तो सुविदित ही है कि शाहजहाँ का स्वभाव झूठे अभिलेख बना देने का था, जैसे कि उसने अपने पिता की मृत्यु के तीन वर्ष बाद झूठा जहाँगीरनामा बना दिया था। ताज की देखभाल करने वालों के पास उपलब्ध "तारीखे-ताजमहल" नामक दस्तावेज़ को भी कीन ने बल देकर जाली अभिलेख कहा है। अब्दुल हमीद के तिथिवृत्त की पूर्ण निरर्थकता उसके अपने अनुक्रम द्वारा सिद्ध हो जाती है। उसके द्वारा रूप-रेखांकनकार का नामोल्लेख न होने के कारण परवर्ती इतिहासकारों ने ऊल-जलूल अन्दाज़े लगाए हैं। मुल्ला अब्दुल हमीद ताज का मूल्य 50 लाख रुपये आँकता है, जिस राशि का उपहास इतिहास के सभी निष्पक्ष विद्यार्थी करते हैं। मुल्ला

अब्दुल हमीद के तिथिवृत्त में इस प्रकार न जाने कितनी विसंगतियाँ प्राप्य हैं। यह इस तथ्य का एक सुन्दर उदाहरण है कि मनगढ़न्त बातों में उनका भंडाफोड़ करने वाले छिद्र रह ही जाते हैं।

परम्परागत ताज-वर्णन के पक्ष में दिए जाने वाले अपर्याप्त तीनों प्रमाणों को भी अत्यन्त अविश्वसनीय मानने योग्य विवेचन कर लेने के पश्चात् अब हम उन प्रबल प्रमाणों का विवेचन करेंगे जो यह सिद्ध करते हैं कि ताजमहल सत्य-रूप में वही है जो इसके नाम से प्रकट होता है, अर्थात् यह राजप्रासाद—राजमहल—है। हमारे साक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

(1) शाहजहाँ, जिसका शासनकाल इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता था, ताज के निर्माण-सम्बन्धी कागज़-पत्रों का एक भी टुकड़ा नहीं छोड़ गया है। इसलिए, राज-निर्माण की आज्ञा के आदेश, तथाकथित भू-खंड के क्रय अथवा अधिग्रहण के लिए पत्र-व्यवहार, रूपांकन-रेखाचित्र, देयक या पावतियाँ, और लेखा-व्ययक आदि कुछ भी तो उपलब्ध नहीं है।

(2) स्वयं ताजमहल नाम नरेशोचित आवास अथवा आवासों में सर्वोत्तम का द्योतक है। कल्पना की किसी भी विधा से सोचो, किसी भी कब्रिस्तान का पदनाम राजप्रासाद तब तक नहीं दिया जा सकता था, जब तक कि वह राजप्रासाद स्वयं ही कब्रिस्तान में न बदल दिया गया हो।

(3) यदि शाहजहाँ ताज की मूल-कल्पना करने वाला रहा होता, तो उसे मुल्ला अब्दुल हमीद को तिथिवृत्त में इसका उल्लेख करना न भूलने के लिए विशेष अनुदेश देने की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि शासनारूढ़ सम्राट की सर्वोत्तम भव्य और श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में ताज का उल्लेख करना वेतनभोगी दरबारी वृत्तकार की दृष्टि से कभी ओझल हुआ ही नहीं होता। उसे पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता ही न थी।

(4) मुल्ला अब्दुल हमीद द्वारा लिखित तिथिवृत्त में रूप-रेखांकनकार के नाम का अभाव एवं ताज की अत्यल्प कम लागत जैसी अनेक घोर विसंगतियाँ हैं, जिन पर परवर्ती इतिहासकारों ने व्यंग्यात्मक टिप्पण दिए हैं।

(5) शाहजहाँ का शासनकाल किसी भी भाँति स्वर्णकाल न था क्योंकि यह तो अनवरत असमाप्य युद्धों, विद्रोहों, संक्रामक रोगों और अकालों से पूरित हो कलंकित हुआ था।

(6) यदि किसी रखैल के लिए ताज जैसा भव्य स्मारक बनाया जाता है, तो उसमें उस मृतकों को दफ़नाने की एक विशेष तिथि भी तो निश्चित होगी, और इसका उल्लेख अभिलेखों में अवश्य ही हुआ होगा। किन्तु इतना ही नहीं, कि दफ़नाने की तिथि का कोई उल्लेख नहीं है, अपितु जिस अवधि में वह ताज में दफ़नाई गई होगी, वह काल भी मुमताज की मृत्यु के उपरान्त 6 मास से 9 वर्ष तक का भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

(7) शाहजहाँ 21 वर्ष का था जब मुमताज से उसका विवाह हुआ। यह प्रदर्शित करता है कि वह उसकी बहुत-सी पत्नियों में से एक थी, क्योंकि शाहजहाँ के काल में लड़कों और विशेषकर शाहज़ादों के विवाह उनके किशोरावस्था में पदार्पण करने से पूर्व ही हो जाया करते थे। बहुत-सी पत्नियों में तथा कम से कम 5000 में से एक होने के कारण ऐसा कोई विशेष कारण नहीं था कि उसे किसी स्वर्गिक अनुपम स्मारक में सदैव स्मरण किया जाए।

(8) इतिहास ऐसा कोई उल्लेख नहीं करता है कि अपने जीवन-काल में मुमताज और शाहजहाँ में कोई विशेष अथवा असामान्य प्रेमाचार था। इसके विपरीत, जहाँगीर और नूरजहाँ के प्रेमाचरण का वर्णन तो मिलता है। यह दर्शाता है कि उनके प्रेम की बाद की कथा केवल यह सत्यापित करने के लिए गढ़ी गई है कि मुमताज के मृतपिंड के लिए ही शाहजहाँ ने ताजमहल की रचना की थी।

(9) ताज से क़िले तक का भू-गर्भस्थ संकटकालीन द्वार केवल राजप्रासाद में ही हो सकता था। मृतकपिंड को किसी सुरक्षात्मक-मार्ग और वह भी भू-गर्भस्थ मार्ग की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती।

(10) पिछवाड़े में यात्रियों के उतरने के घाटों का अस्तित्व राजाप्रसाद का संकेतक है।

(11) केन्द्रीय संगमरमर-संरचना में भी लगभग 25 कमरों वाला राजप्रासादोयुक्त स्थान है जो किसी भी प्रकार मूलरूप में मकबरा नहीं हो सकता था।

(12) समस्त ताज-संकुल में कुल मिलाकर लगभग 300 या इससे अधिक कमरे थे, जो इसके द्वारों तलघरों, ऊपरी मंजिलों और इसके अनेक स्तम्भों में थे।

(13) दीर्घा, मेहराब, दीवारगिरी और गोलाकार प्रासाद-शृंग पूर्ण रूप में हिन्दू शैली में हैं, जैसे समस्त राजपूताना में विपुल मात्रा में देखे जा सकते हैं।

(14) ताज के प्रत्येक अन्य संदेहात्मक पक्ष की ही भाँति इसकी निर्माणावधि में भिन्न-भिन्न 10, 13, 17, या 22 वर्ष कही जाती है, जो फिर सिद्ध करती है कि परम्परागत विवरण केवल कल्पना मात्र है। स्पष्टतः, उपर्युक्त कालावधियाँ सभी प्रकार सत्य हैं क्योंकि परिवर्तन 10 वर्ष के भीतर ही पूर्ण हो गये थे। कुछ अन्य, जिनके बारे में बाद में विचार आया, भिन्न समय पर समाप्त हुए थे। ये भिन्न-भिन्न वर्णन इस विश्वास को ही बल प्रदान करते हैं कि ताज मूल रूप में राजप्रासाद था।

(15) रूप-रेखांकनकारों का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख किया जाता है—पश्चिमी विद्वानों ने यूरोपीय, मुस्लिम विद्वानों ने इनको मुस्लिम और इम्पीरियल पुस्तकालय-स्थित पाण्डुलिपि ने उन सभी को हिन्दू नामक बताया है। परम्परागत ताजकथा की असत्यता बताने के लिए और किस श्रेष्ठ प्रमाण की आवश्यकता है!

(16) इस तथ्य के अतिरिक्त कि इम्पीरियल पुस्तकालय स्थित पाण्डुलिपि में सभी हिन्दू नामों की सूची दी गई है, एक और उल्लेखनीय बात है जो ताज के रूप-रेखांकनकार यूरोपीय अथवा मुस्लिम होने सम्बन्धी दावे को पूरी तरह झुठला देती है। यह ध्यान रखने की बात है कि पश्चिमी विद्वानों में भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग ताज के नमूने का श्रेय इटली के जीरोनिमो वीरोनिओ को देता है। दूसरा वर्ग इसका श्रेय एक फ्रांसीसी आस्टिन डि

बोरड्योक्स को देता है। विद्वानों के मुस्लिम-वर्ग में भ्रम भी इतनी घोर मात्रा में है। वे भी दो वर्गों में विभक्त हैं। एक वर्ग का कहना है कि ईस्सा अज़न्दी एक तुर्क था, दूसरा वर्ग समान रूप से बल देकर कहता है कि वह एक फ़ारसी व्यक्ति था। असली बात यह है कि चूँकि ईस्सा अज़न्दी, लेखक के काल में प्रचलित सामान्य नामों में से चुन लिया गया एक काल्पनिक नाम ही है, इसीलिए उसकी राष्ट्रीयता भी अनिश्चित रह गई है।

(17) ताज का प्रवेशद्वार दक्षिणाभिमुख है न कि उत्तराभिमुख जैसाकि प्रत्येक मूल मस्जिद में होना चाहिए। जैसा किसी राजमहल में चाहिए, उसी के अनुरूप ताज में एक विशाल स्वागत चतुरांगण है।

(18) किसी भी प्रकार व्ययशील न होकर, ताजमहल तो शाहजहाँ को सुविख्यात कथानक की सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी सिद्ध हुआ। परम्परागत वर्णनों में उल्लेख है कि ताज में मणियाँ जड़े हुए संगमरमर के झरोखे, सोने के खम्भे और चाँदी के द्वार थे। शाहजहाँ के अपने अथवा उसकी पत्नी के महल में भी परियों की कथानुरूप स्थावर सम्पत्ति न थी, जबकि वे दोनों जीवित भी थे। यह सोचना बिल्कुल बेहूदा है कि मुमताज की मृत्यु के तुरन्त बाद ही आसमान से छप्पर फाड़कर वह समस्त मूल्यवान् और भव्य स्थावर सम्पत्ति शाहजहाँ के घर में आ पड़ी। किन्तु उन स्थावर वस्तुओं के विवरण पूर्ण रूप में सत्य ही हैं। हम उनको इसी रूप में स्वीकार करते हैं। वे हमारे इस विचार का समर्थन करते हैं, कि शाहजहाँ चूँकि कृपण एवं धूर्त था ही, उसने अपनी पत्नी की मृत्यु से भी अनुचित लाभ उठाया। उसने उस शोकपूर्ण अवसर को भी, जयसिंह को उसके पैतृक राजप्रासाद से बाहर निकाल देने के लिए, काम में लिया। मुमताज़ को अपहृत, खिन्न राजमहल में गाड़ा गया जिसकी सभी बहुमूल्य सामग्री बाद में चुपके-चुपके शाहजहाँ के कोषागार में जमा होती रही। और ये वस्तुएँ केवल ऊपर वर्णित सामग्री ही न थी जो वहाँ से हटाई गई थी, अपितु राजपूती मयूर-सिंहासन भी था जो उन जाज्वल्यमान वस्तुओं के बीच में सुशोभित होता था। क्योंकि, चाँदी के द्वार और सोने के स्तम्भों तथा रत्नजटित संगमरमर की दीवारों के

संकुल प्रासाद में मयूर–सिंहासन के अतिरिक्त और रखा ही क्या जा सकता था? अतः वह मयूर–सिंहासन, जो ईरान ले जाया गया था, मुग़ल कुलगत वस्तु न होकर अत्यन्त प्राचीन एवं भारतीय क्षत्रिय राजसिंहासन था जिसका निर्माण–काल–ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी के अनंगपाल अथवा विक्रम संवत् के आदिस्वामी विक्रमादित्य के काल अर्थात् ईसा से 57 वर्ष पूर्व तक जा सकता है।

(19) जहाँ आज ताज स्थित है, वह स्थान जयसिंहपुरा और ख़वासपुरा नामक दो अतिव्यस्त बस्तियों का था। उन बस्तियों का मुख्य आकर्षण केन्द्र ताज राजप्रासाद ही था। संस्कृत में 'पुर' शब्द व्यस्त नगरी का द्योतक है—केवल एक खुला भूखण्ड नहीं।

(20) सर्वमान्य तथ्य, कि शाहजहाँ ने जयसिंह से ताज–सम्पत्ति ले ली थी, इस विषय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। यह विश्वास कि शाहजहाँ ने एक खाली भूखण्ड ले लिया था, कोई बना बनाया राजप्रासाद नहीं, इसी धारणावश जमा हुआ है कि उसने मकबरा बनवाया। इसके लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है। वह धारणा भी निराधार है।

(21) यह लिखा हुआ मिलता है कि बाबर अपने उद्यानीय राजप्रासाद में मरा था। आगरा में ताज के अतिरिक्त और कोई ऐसा भव्य भवन नहीं है जिसके अविभाज्य एवं अपरिहार्य विशेषण के रूप में उद्यान इतना महत्त्वपूर्ण बन चुका हो। शाहजहाँ से चार पीढ़ी पूर्व बाबर जिस उद्यानीय राजप्रासाद में मरा, वह ताज के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं था।

(22) अपनी आगरा की प्रारम्भिक यात्राओं पर अकबर ख़वासपुरा और जयसिंहपुरा में ठहरा करता था। यह स्पष्ट प्रदर्शित करता है कि वह ताज में ठहरता था। भवन की भव्यता की विद्यमानता के होते हुए भी वह वहाँ स्थायी रूप में न रह पाया क्योंकि इसकी सुरक्षा–संरचनाएँ निरन्तर आक्रमणों के कारण तहस–नहस कर दी गई थीं। और स्वयं अपने ही पुत्र से लगाकर अन्य सभी लोगों द्वारा घृणित अकबर किसी ग़ैर–मोर्चाबन्दी के स्थान या राजमहल में रहने की हिम्मत न कर सका।

(23) बर्नियर का कहना है कि ताज के सबसे नीचे के कमरे वर्ष में केवल एक बार ही खुलते थे, और किसी भी गैर-मुस्लिम को उनके भीतर जाने की अनुमति नहीं मिलती थी। यह ताज की भू-तलीय मंजिलों के सम्बन्ध में रखी गई अत्यन्त व्यक्तिगत रहस्यमयता को प्रकट करता है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारी सरकार और हमारे विद्वान ताज की भू-तलीय मंजिलों को खोलने, मलवा साफ़ करने, विद्युत् व्यवस्था करने, सीढ़ियों और कमरों में भरे कूड़े-कचरे को हटाने और इतिहास के अध्येताओं तथा सामान्य साधारणजनों को इन स्थानों का निर्बाध भ्रमण करने की अनुमति के लिए कोई जागरूकता प्रदर्शित नहीं करते। इस पर लगाए जाने वाले प्रवेश-शुल्क से सरकार को भी पर्याप्त आय होगी, और अन्वेषकों, सामान्य यात्रियों, इंजीनियरों तथा वास्तुकलाविदों को भी इस भव्य तथा कल्पनातीत रचना की भू-तलीय अलौकिकता के दर्शनमात्र से ज्ञान-संवर्धन की प्राप्ति होगी। इस प्रकार, यहाँ अन्वेषण की अत्यन्त श्रेष्ठ सामग्री उपलब्ध है। किसी को क्या मालूम कि नीचे ही कहीं अज्ञात विपुल कोष भी दबा पड़ा हो! इस प्रकार सरकार और सामान्य जनता दोनों का हित होगा यदि इस ताज के तलघर सभी दर्शनार्थियों के लिए खोल दिये जाएँ।

(24) 'तारीखे-ताजमहल' दस्तावेज जाली सिद्ध हो गया है।

इस प्रकार के असंख्य संकेत हमारी अपनी धारणा के पक्ष में दिये जा सकते हैं। किन्तु मुझे विश्वास है कि जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शाहजहाँ द्वारा ताज बनवाने की परम्परागत कथा इतिहास के बड़े-से-बड़े घोटालों में से एक है। ताज-विभ्रम का सूची-भेदन स्वतः ही मध्यकालीन इतिहास को पिचका देता है। यहाँ हमारे लिए उस महान् इतिहासकार सर एच०एम० इलियट के वे शब्द स्मरण दिलाने श्रेयस्कर होंगे जो उसने मध्यकालीन तिथि-वृत्तों के अपने अष्टखण्डीय अध्ययन के आमुख में अत्यन्त संगत और स्पष्ट रूप में उल्लिखित किये हैं, कि "भारत में मुस्लिम कालखण्ड का इतिहास अत्यन्त रोचक और जान-बूझकर किया गया धोखा है।" दुर्भाग्य से यह कपटजाल

इतना दुर्भेद्य है कि बेचारे सर एच. एम. इलियट भी, यह जानते हुए कि यह एक धोखा है, ताज के कुछ पक्षों पर विश्वास करने के कारण ठगी में आ ही गये। यह कपटजाल इतना पुख़्ता रहा कि फ़र्ग्युसन, विन्सेन्ट स्मिथ और अन्य इतिहासकार जैसे पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों की अनेक पीढ़ियाँ भी इससे ठगी जाती रही हैं। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय पाठशालाओं, विद्यालयों और अन्वेषण संस्थानों में भारतीय इतिहास के नाम से पढ़ाए जा रहे कल्पनारंजित वर्णनों में अपना मन फँसाए रखने के स्थान पर भारतीय इतिहास के विद्वान्, विद्यार्थी और शिक्षक अब तो कम-से-कम एक स्थान पर बैठेंगे और विचार करेंगे।

फ़तहपुर सीकरी

आगरा से लगभग 27 मील की दूरी पर एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित लाल पत्थर का एक भव्य और विशाल राजप्रासाद-संकुल स्थान 'फ़तहपुर सीकरी' के नाम से पुकारा जाता है। प्रचलित भारतीय इतिहास ग्रन्थ और भ्रमणार्थियों का साहित्य बहुविधि घोषित करते हैं कि यह शाही नगरी, सन् 1556 से सन् 1605 तक भारत के एक विशाल भाग पर शासन करने वाले, मुगल वंश के तृतीय बादशाह अकबर ने बसाई थी।

चूँकि भारत भर में सर्वत्र फैले हुए प्रचलित सभी मध्यकालीन स्मारक, यद्यपि वे सभी मुस्लिम-पूर्व काल के उद्गम हैं, इस या उस मुस्लिम शासक के साथ भूल से जोड़ दिये गये हैं, इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि फ़तहपुर सीकरी की शाही नगरी का भी वही भाग्य रहा। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए अपार साक्ष्य उपलब्ध हैं कि अपने प्रचलित लाल पत्थरों के स्मारकों सहित फ़तहपुर सीकरी एक राजपूती नगरी थी जो अकबर से शताब्दियों पूर्वकाल में निर्मित हुई थी। हमारे साक्ष्य के प्रमुख प्रमाण निम्न प्रकार एकत्र किए जा सकते हैं—

(1) अकबर से पूर्व शासन करने वाले शासकों से सम्बद्ध अनेक मुस्लिम तिथिवृत्तों में इस नगरी के सम्बन्ध में 'फथपुर', 'सीकरी' और

'फथपुर सीकरी' के नाम से भी अनेक बार उल्लेख हुआ है।

(2) न्यायाधीश जे०एम० शेलट द्वारा लिखित और भारतीय विद्याभवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'अकबर' शीर्षक ऐतिहासिक पुस्तक के 82वें पृष्ठ के सम्मुख एक फलक दिया गया है जिसके चित्र का शीर्षक है 'हुमायूँ की टुकड़ियाँ फथपुर में प्रवेश कर रही हैं।' यहाँ स्मरणीय यह है कि हुमायूँ अकबर का पिता था। यह चित्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि फथपुर (सीकरी) अकबर से पूर्व विद्यमान थी।

(3) बाबर के स्मृति-ग्रन्थों में उल्लेख है कि पहाड़ी से दीख पड़ने वाली फ़तहपुर सीकरी के चारों ओर ही, भारत में मुगल वंश संस्थापक बाबर और राणा साँगा के मध्य निर्णायक युद्ध लड़ा गया था। राणा साँगा को नगरी की चहारदीवारी से बाहर आना पड़ा था क्योंकि घेरा डालने वाली शत्रु-सेना देहातों को रौंद रही थी, निर्दोष नागरिकों को कत्ल कर रही थी और नगरी के प्रमुख जल-भंडार अनूप झील को विषमय बना रही थी। चूँकि राणा साँगा युद्ध लड़ने के लिए नगरी के बाहर आए थे, इसीलिए बाबर ने कहा है कि युद्ध पहाड़ी के निकट ही लड़ा गया था।

(4) बेखबर लोग कदाचित् तर्क करने लगें कि वह लड़ाई तो कुछ ही मील दूर कनवाहा में लड़ी गयी थी, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। कनवाहा की लड़ाई तो बाबर की फौजों और राणा साँगा की सेना की एक टुकड़ी का प्रारम्भिक संघर्ष भर थी। अन्तिम निर्णायक युद्ध तो कुछ दिनों के पश्चात् फ़तहपुर सीकरी के चहुँ ओर लड़ा गया था जिसमें स्वयं राणा साँगा ने अपनी सेना का नेतृत्व किया था।

(5) सम्पूर्ण नगरी और समतल मैदान के सैकड़ों एकड़ को परिवेष्टित करने वाली विशाल प्राचीर अभी भी गोलाबारी के चिह्नों से युक्त है। दीवारों में दरारों वाले छेद बाबर की सैन्य-टुकड़ियों द्वारा राणा की सुरक्षापंक्तियों पर बन्दूकों के आक्रमण के प्रमाण हैं।

(6) 'अकबर इस प्रकार ध्वस्त हुई नगरी में रहा था'—इसका प्रमाण ब्रिटिश सम्राट् के उस प्रतिनिधि द्वारा मिलता है जो अकबर की मृत्यु के

पश्चात् जहाँगीर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद उसके पास आया था। इस प्रतिनिधि ने लिखा है कि नगरी ध्वस्त हो चुकी थी। यह भी मान लिया जाए कि इस नगरी का निर्माण अकबर द्वारा हुआ था, तो भी जब हम इसके सभी भव्य स्मारकों को अक्षत पाते हैं जैसे कल ही बने हों, तो यह समझ में नहीं आता कि यह नगरी जो सन् 1583 में पूर्ण हुई विश्वास की जाती है, किस प्रकार केवल 23 वर्ष में ही ध्वस्त हो गई, जब वह अंग्रेज़ जहाँगीर के पास आया। साक्ष्य का यह अंश स्पष्ट करता है कि अकबर अपने पितामह द्वारा कुछ दशाब्द-पूर्व ही ध्वस्त की गई राजपूती नगरी में ही रहता रहा था।

(7) एक अन्य अंग्रेज़—राल्फ फिच—फ़तहपुर सीकरी सन् 1583 में सितम्बर मास में आया था। अपनी यात्रा के जो टिप्पण वह छोड़ गया है, उसमें उसने आगरा और फ़तहपुर सीकरी की परस्पर तुलना की है, जो इस बात का द्योतक है कि वह दोनों नगरों को ही प्राचीन मानता था। जैसाकि मुस्लिम तिथिवृत्तों में झूठा दावा किया गया है, यदि फ़तहपुर सीकरी सन् 1583 ई० के आसपास बनी बिल्कुल नयी नगरी रही होती तो उसने वैसा ही कहा होता और उन दोनों नगरों की तुलना न की होती। वह यह भी कहता है कि व्यापारी अपनी बहुमूल्य सामग्री बेचने के लिए फ़तहपुर सीकरी में जमा हुआ करते थे। यह टिप्पण भी इस बात का द्योतक है कि यह व्यापार-संगम एक प्राचीन प्रथा थी। यदि फ़तहपुर सीकरी एक नई नगरी ही होती, तो फिच ने इसकी तुलना प्राचीन आगरा से कभी न की होती—कम-से-कम फ़तहपुर सीकरी का नयी नगरी के रूप में विशेष नामोल्लेख तो अवश्य ही किया होता।

(8) फ़तहपुर सीकरी के बाहर (अब शुष्क पड़ी) विशाल झील का संस्कृत (अनूप) नाम भी सिद्ध करता है कि यह मुस्लिम-पूर्वकाल में राजपूतों द्वारा बनाई गई थी।

(9) यह तथ्य भी, कि अनूप झील सन् 1583 में फूटकर बह निकली और अन्त में विवश होकर अकबर को वह नगरी सदैव के लिए छोड़ देनी पड़ी, विचार प्रस्तुत करता है कि अनेक दशाब्दियों से यह झील देखभाल

और मरम्मतादि से उपेक्षित रही प्रतीत होती है (जब से बाबर ने इसे रौंदा और फ़तहपुर सीकरी को अपने अधीन किया था)। यदि फ़तहपुर सीकरी के जलभंडार के रूप में यह नयी-नयी ही बनी थी, तो इसके फूटकर बह निकलने की बात न होती।

(10) फ़तहपुर सीकरी के निर्माण-प्रारम्भ का समय परम्परागत मुस्लिम तिथिवृत्त ईसा पश्चात् 1564, 1569, 1570 और 1571 बताते हैं। ये विभिन्न वर्णन स्वयं ही असत्यता को सिद्ध करते हैं।

(11) वे उल्लेख करते हैं कि नगरी सन् 1583 के आसपास पूर्ण हो गई थी। ऐसा हुआ, तो अकबर ने इसे सन् 1585 तक छोड़ क्यों दिया? वास्तविक कारण यह था कि झील के सन् 1583 के उफान ने अकबर के लिए प्राचीन राजपूती राजप्रासाद में रहना असम्भव कर दिया था। यदि अकबर ने ही इस नगरी और झील, दोनों का निर्माण सन् 1583 के आसपास पूर्ण कराया होता तो प्रथम बात यह है कि सन् 1583 ई. में ही झील फूट न गई होती और दूसरी बात यह है कि अकबर ने इस नये निर्मित राजप्रासाद-संकुल को त्याग देने के स्थान पर इस झील की मरम्मत कराई होती। किन्तु अकबर को यह त्यागनी ही पड़ी क्योंकि उसे झील की मरम्मत कराने का कुछ भी ज्ञान न था।

(12) जहाँ पर हाथीपोल (गज-द्वार) झील में खुलता है, वहीं पर एक छोटा स्तम्भ है जिसमें एक चक्करदार सीढ़ी भी है। स्तम्भ में बीसयों प्रस्तरदीप हैं। यह एक परम्परागत हिन्दू दीप-स्तम्भ है जो मन्दिरों और राजप्रासादों के सामने होता था। इन टेकों पर मिट्टी के दीपक रखे जाते थे। जगमग-जगमग दीख पड़ने के कारण यह दीप-स्तम्भ 'हिरण्यमय (स्वर्णिम)'' कहलाता था। वही संस्कृत शब्द अब विदग्धतापूर्वक 'हिरनमीनार' में बदल दिया गया है जिसमें वह जाली अकबर-कथा में ठीक बैठ जाए, और स्तम्भ अकबर के प्रिय हिरण के मरण-स्थान के रूप में माना जाता है। क्या अकबर के हिरण ने मरने के समय अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की थी कि उसको एक चक्करदार सीढ़ीयुक्त हिन्दू-दीप-स्तम्भ के रूप में

स्मारक में स्थान दिया जाए?

(13) हाथीपोल दरवाज़े के निकट दो बड़े हाथियों की विशालकाय मूर्तियाँ अपने राजपूती मूल की शान्ति-अवाक् साक्षियाँ हैं। प्रस्तर गज-मूर्तियाँ के शीर्ष तोड़ डाले गए हैं। उनकी सूँड़ों की प्रवेशद्वार पर मेहराब हुआ करती थी जैसे कि आज भी राजपूती रियासत की राजधानी कोटा के राजमहल में है। इसी प्रकार के गज-द्वार चित्तौड़ में और आगरा व दिल्ली के लाल-क़िले में हैं। इस्लाम तो सभी मूर्तियों से चिढ़ता है। और भी बात यह है कि गज तो हिन्दू धार्मिक आस्था और इतिहास में सदैव श्रेष्ठता और दैवी शक्ति, बल और यश का प्रतीक रहा है। यह विशिष्टता लिये हुए भारतीय पशु भी है। यह सिद्ध करता है कि फ़तहपुर सीकरी का हाथीपोल दरवाजा तो बनाना दूर, अकबर ने उन हाथियों के शीर्ष कटवा दिये थे और उनकी भव्य मेहराबदार सूँडें तुड़वा दी तीं।

(14) इसी प्रकार की मूर्ति-भंजकता फ़तहपुर सीकरी के अन्दर के अनेक भवनों में परिलक्षित की जा सकती है जहाँ दीवारों पर बने मयूर पक्षी चित्रों को तराश दिया गया है।

(15) अश्वों के लिए अश्वशाला और गजों के लिए गजशाला सहित परस्पर गुंफित अलंकृत हिन्दू कलाकृति और लक्षणों युक्त यह सम्पूर्ण नगरी ही परम्परागत राजपूती शैली में है।

(16) इसके नाम और समुच्चयों की संज्ञा भी लगभग पूर्ण रूप में हिन्दू ही है; यथा पंचमहल, जोधाबाई का महल, तानसेन महल, बीरबल महल आदि। यह प्रदर्शित करता है कि विदेशी मुस्लिम सरदार अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण उन अलंकृत भवनों को उपयोग में न ला सकें।

(17) तथाकथित सलीम चिश्ती का मकबरा अलंकृत रूप में अन्दर खुदाई किया हुआ संगमरमर का हिन्दू मन्दिर है। इसके भीतर पूरी तरह बेल-बूटों से युक्त एक संगमरमर का स्तम्भ है जिसको मूलरूप में सत्य ही मकबरे में कोई स्थान उपलब्ध न होता।

(18) भारतवर्ष में कहीं भी किसी मुस्लिम फ़कीर के मकबरे का

अस्तित्व स्वयं ही प्रमाण है कि वह स्थान पर एक प्राचीन भारतीय नगरी है, क्योंकि मध्यकालीन मुस्लिम फ़क़ीर ध्वस्त स्मारकों में ही अपने निवास स्थान की व्यवस्था कर लिया करते थे। दिल्ली में निज़ामुद्दीन और बख़्तियार काकी के मकबरे और अजमेर में मोइनुद्दीन चिश्ती की दरगाहों का सर्वेक्षण कर इस तथ्य को सत्यापित किया जा सकता है।

(19) तथाकथित बुलन्द दरवाजे और शाही दरवाजे के पार्श्वस्थ विशाल चतुष्कोण में सलीम चिश्ती की कब्र के साथ-साथ बीसियों और भी कब्रें हैं। इसके बिल्कुल ही निकट शाही राजमहल है। यदि अकबर ने यह नगरी बसायी होती, तो क्या वह उस भव्य, विशाल, पट्टीदार चतुष्कोण को कब्रिस्तान में बदल देने की अनुमति दे सकता था? क्या कभी कोई बादशाह अपने सिरहाने ही किसी भयोत्पादक कब्रिस्तान को पसन्द करेगा? स्पष्टतः वे कब्रें उन मुस्लिम योद्धाओं की हैं जो बाबर के समय में नगरी को ध्वस्त करने के कार्य में वहाँ खेत रहे थे अथवा उन फ़क़ीरों की हैं जो बाद में उन खण्डहरों में आ बसे थे। यह भी सन्देहात्मक है कि शेख़ सलीम चिश्ती सचमुच वहाँ दफ़नाया हुआ है भी या नहीं, क्योंकि उसकी कब्र अन्य सभी त्रिकोणात्मक मृद्राशियों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है।

(20) उसी बड़े चतुष्कोण का एक बरामदा भी मस्जिद नाम से पुकारा जाता है। यह भी सिद्ध करता है कि मस्जिद—कब्रिस्तान—शाही चतुष्कोणमय ऊँचे भव्य द्वारों से युक्त यह गोलमाल जान-बूझकर किया हुआ, बलात् अधीन किये हुए राजपूत नगर का एक साथ किया हुआ उपयोगी रूप है। ई. डब्ल्यू. स्मिथ तथा अन्य पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि इस तथाकथित मस्जिद में इसकी गूढ़ कलाकृति में अनेक हिन्दू चिह्न प्राप्य हैं। परिधि का एक सूक्ष्म विवेचन प्रदर्शित करता है कि विशाल चतुष्कोण बाबर द्वारा नगरी अधीन किये जाने से पूर्व राजपूत राजवंश की पाकशाला तथा भोजनालय कक्ष था।

(21) 'सीकरी' शब्द संस्कृत का मूल है। 'संस्कृत में 'सिकता' का अर्थ रेत है। रेतीले राजस्थानी खण्ड में इसी के कारण एक प्रमुख स्थान

'सीकर' नाम से पुकारा जाता है। सीकर का अत्यल्प स्त्रीवाचक शब्द 'सीकरी' है। सीकर से आये हुए व्यक्तियों के लिए 'सीकरी' नामक नगरी बसाना बिल्कुल सामान्य बात है। यह इस तथ्य का संकेतक है कि फ़तहपुर सीकरी के मूल संस्थापक सीकर के किसी राजपूत परिवार के व्यक्ति रहे होंगे। 'पुर' प्रत्यय भी संस्कृत में बस्ती का द्योतक है। 'फ़तह' उपसर्ग विजित नगरी का द्योतक है। अतः मुस्लिम-उपसर्ग 'फतह' स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि फ़तहपुर सीकरी एक पूर्वकालीन राजपूत नगरी है जो आक्रमणकारी विदेशियों द्वारा विजित हुई।

(22) अकबर के शासनकाल के अभिलेखों में कागज़ का एक टुकड़ा भी ऐसा नहीं है जो सिद्ध करता हो कि फ़तहपुर सीकरी नगरी बसाने की आज्ञा दी गई हो, रूप-रेखांकन हुआ हो, सामग्री के लिए आदेश दिये हों, श्रमिकों को मज़दूरी दी हो अथवा दैनिक लेखा रखा गया हो। यदि अकबर ने वास्तव में इतनी बड़ी नगरी-निर्माण का आदेश दिया होता, तो अभिलेखों के अम्बार अथवा कुछ फटे-पुराने टुकड़े मुग़लों के उन अभिलेखों में मिलते ही जो ब्रिटिश लोगों ने अपने कब्जे में ले लिये।

(23) अकबर द्वारा फ़तहपुर सीकरी का निर्माण प्रारम्भ किए जाने वाली मनगढ़न्त तिथियों से भी पहले, इतिहास में यह उल्लेख मिलता है कि अकबर अपनी पत्नियों को प्रजनन-प्रसूती के लिए फ़तहपुर सीकरी भेज दिया करता था। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में भी फ़तहपुर सीकरी में नरेशोचित भवन थे, जो शाही बेगमों के प्रजनन-प्रसूती के लिए परम उपयुक्त थे। इस अति स्पष्ट बात के होते हुए भी, कि अकबर का शासनकाल प्रारम्भ होने के समय भी फ़तहपुर सीकरी राजप्रासादीय-संकुल विद्यमान था, झूठे अभिलेखों में यह मक्कारी से ठूँस दिया गया है कि अकबर की पत्नियाँ सलीम चिश्ती की गुफ़ाओं में शाहज़ादों को जन्म दिया करती थीं। यह कहना ही बिल्कुल झूठ है कि सलीम चिश्ती गुफ़ा में रहा करता था। जैसे सभी मुस्लिम फकीर रहा करते थे, उसी प्रकार वह भी राजप्रसादीय ध्वंसावशेषों में निवास करता था। दूसरी

बात यह भी हृदय में अनुभव करने की है कि अकबर की पत्नियाँ कोई शेरनियाँ तो थीं नहीं जो गुफाओं में शावक-समूहों को जन्म देतीं। तीसरी बात यह है कि यह कहना कि अकबर अपनी पत्नियों को सलीम चिश्ती के पास प्रजनन के लिए भेजता था, स्वयं में ही अत्यन्त विचित्र है, क्योंकि कुछ भी हो, यह निश्चित है कि सलीम चिश्ती कोई प्रमाणित नित्याभ्यासी दाई तो था नहीं!

(24) प्रचलित झूठे वर्णनों के अनुसार फ़तहपुर सीकरी, सन् 1570 से 1583 के मध्य बन ही रही थी, और कमाल यह है कि ठीक इसी अवधि में यह अकबर की राजधानी भी रही। बन रही नगरी में अकबर किस प्रकार रह सकता था?

(25) अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से तीन दशाब्दी पूर्व बाबर व राणा साँगा के मध्य लड़े गए अन्तिम युद्ध का स्पष्ट प्रमाण पहाड़ी व निकटवर्ती मैदान को परिवेष्टित करने वाली विशाल बाह्य प्राचीर में दरारमय छेद हैं।

इस प्रकार का विपुल साक्ष्य होते हुए भी, प्रचलित ऐतिहासिक ग्रन्थों और यात्रा-सम्बन्धी साहित्य में कालदोष-विषयक यह बात कहते रहना कि फ़तहपुर सीकरी—जो वास्तव में हिन्दू नगरी है—अकबर द्वारा आज्ञापित थी, भयंकर भूलों से भरे हुए भारतीय इतिहास-परिशोध की एक बहुत बड़ी और घोर त्रुटि का अत्यन्त विक्षुब्धकारी उदाहरण है।

हम यह भी सुनते हैं कि अकबर 19 वर्ष की आयु में अर्थात् सन् 1561 ई. में फ़तहपुर सीकरी से अजमेर के लिए रवाना हुआ था। वापिस आते समय अकबर ने जयपुर के शासक भारमल को विवश किया कि वह अपनी पुत्री अकबर के हरम के लिए सौंप दें। उसके पश्चात् प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियान की पूरी तैयारी फ़तहपुर सीकरी में ही की गई थी, और वहों से उसको बाहर भी भेजा गया था। इसी प्रकार चढ़ाई करके लौटने वाली सेनाएँ भी अकबर को पूरी जानकारी देने के लिए फ़तहपुर सीकरी ही वापस आती थीं।

इस प्रकार की बेहूदगियों से इतिहास-शिक्षकों, विद्यार्थियों, विद्वानों, और सामान्य जनता को भी इस तथ्य की ओर सजग हो जाना चाहिए कि अकबर द्वारा फ़तहपुर सीकरी का निर्माण घोषित करने वाले सभी परम्परागत वर्णन जान-बूझकर प्रचारित भ्रम हैं। उसने तो केवल एक अपहृता राजपूती नगरी में तब तक अधिवास किया जब तक इसका विशाल, क्षतिग्रस्त झलभण्डार सुचारु रूप से कार्य करता रहा। जब वह जलभण्डार फूटकर बह चला, तब अकबर को भी ससंकोच सन् 1585 में अपनी सारी फ़ौज-फाटा सहित वह स्थान सदैव के लिए छोड़ देना पड़ा।

आगरा-दुर्ग

आगरा में अन्य महत्त्वपूर्ण भवन लाल पत्थर का क़िला है। चूँकि अग्र (Agra) एक संस्कृत नाम है, और मुस्लिम लोगों के भारत में आने से पूर्व राजपूत शासकों की समृद्धिशाली राजधानी थी, इसलिए इसमें दुर्ग तो होना ही था। वह क़िला तो बना ही राजपूत शैली में है। वहाँ के शैलीपूर्ण दीवानेखास और दीवानेआम कक्षों का स्थापत्य (जयपुर के निकट) आमेर के क़िले के अन्दरूनी भागों से न केवल बहुत ही अधिक साम्य रखता है, अपितु हिन्दू मण्डप-आकार पर है। किसी मुस्लिम शासक के पास कभी भी न तो इतना समय ही था और न ही उसके पास इतना धन था कि इतना बहुमूल्य दुर्ग बनवाए। इसके द्वारों के नाम भी हिन्दुओं के नामों पर हैं यथा 'अमरसिंह द्वार', 'हाथीपोल द्वार'। द्वारों पर, पूर्ण राजाधिकारों से युक्त अश्वारोही और गजारोही राजपूत नरेशों की मूर्तियाँ थीं।

इसका स्पष्टीकरण यह कहकर देना बेहूदा है कि अपनी सेना के विरुद्ध चित्तौड़-दुर्ग की सुरक्षा-प्रतिरक्षा हेतु वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए शूर राजकुमारों के स्वर्ग सिधार जाने पर उनके शौर्य से प्रसन्न होकर अपनी विशाल हृदयतापूर्वक ही अकबर ने उनकी अभ्यर्थना करते हुए इनकी मूर्तियाँ बनवा दी थीं। ये मूर्तियाँ तो पूर्वकालिक राजपूत नरेशों की थीं, और अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से शताब्दियों पूर्व ही यह क़िला बन चुका था।

आगरा-दुर्ग दिल्ली के लालक़िले का सहोदर है। एक का श्रेय अकबर को और दूसरे का श्रेय शाहजहाँ को देना गलत है। जब भी कभी वे बने थे, वे हिन्दू शासकों द्वारा ही बने थे। ऐसा कोई आधिकारिक लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे यह दावा सिद्ध होता हो कि ये दोनों क़िले मुग़ल बादशाहों ने बनवाए थे। इस दावे पर विश्वास करने में इतिहासकारों ने भयंकर भूल की है।

इन दोनों ही क़िलों में उनकी मेहराबों पर प्रस्तर-पुष्पक लक्षण हैं। दीवानेखास और दीवानेआम कक्षों का स्थापत्य अलंकृत हिन्दू मण्डल शैली का है। उनमें सपाट चबूतरों वाली छतें हैं, और कोई भी गुम्बद अथवा मीनारें नहीं हैं। गज-मूर्तियाँ दोनों ही द्वारों पर सुशोभित हैं। चूँकि इस्लाम तो मूतियों के नाम-मात्र से भी कुपित होता है, इसीलिए मुस्लिम बादशाह ऐसे क़िले कभी नहीं बना सकते थे जिनमें हाथियों की मूर्तियाँ हों।

इलाहाबाद-स्थित स्मारक

खुसरू बाग

पुरातन कालीन स्मारकों की रचना के विषय में भ्रान्त धारणाओं का एक और उल्लेखनीय उदाहरण इलाहाबाद है। इलाहाबाद में दीख पड़ने वाले दो महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन स्मारक तथाकथित खुसरू बाग और संगम पर स्थित क़िला है। नगर-प्राचीर में दो भव्य मेहराबदार द्वार हैं, एक खुसरू बाग की ओर जाने वाला और दूसरा पुराने नगर की ओर जाने वाला। दोनों ही हिन्दू नमूने के हैं। उनमें वैसे ही प्रस्तर पुष्प-चिह्न, आलंकारिक बेल-पत्तियों की मालामय खिड़कियाँ और वृत्ताकार छतें हैं, जैसी जयपुर नगर-प्राचीर और राजस्थान के अन्य नगरों में दिखाई देती हैं। मेहराब से पार नगर के अन्दर रानी मण्डी और अत्रि अनुसूया (जो अब बोलचाल की गँवारू भाषा में 'अत्तरसूया' बन गया है) क्षेत्र हैं। इसी रानी (जिसके नाम पर 'मण्डी' क्षेत्र

अभी भी है) और उसके राजा का प्रासाद आज भूल से 'खुसरू' बाग कहलाता है। वह उनका महल था जो मुस्लिम सेनाओं ने नगर में चढ़ाई करते समय ध्वस्त कर दिया। ध्वस्त किये जाने से बचे हुए कुछ भाग बा . में समाधिसूचक कक्षों के रूप में काम लाए गए। यह उनके विषम आकारों और पूर्णरूप में हिन्दू-कारीगरी से स्पष्ट हो जाएगा। उन भागों में से एक में तो कब्र नाम की कोई वस्तु है ही नहीं जो यह प्रदर्शित करता है कि आज विद्यमान सभी भाग समाधि सूचकेतर प्रयोजन से निर्मित किए गए थे। दूसरे भाग में पलस्तर छत तक भद्दे प्रकार से चढ़ा दिया गया है। इन स्मारकों में से एक के साथ ताम्बूलन नाम की स्त्री का सम्बन्ध जुड़ा है जो पुनः उलझन में डालने वाला है, क्योंकि ताम्बूल शब्द संस्कृत का है। बड़ी भारी दीवार की चहारदीवारी जो उन दयनीय, हास्यास्पद रूप से विकृत आकृतियों और खण्डित स्मारकों को पृथक् करती है, अनावश्यक है। यदि खुसरू बाग की ठीक ढंग से खुदाई की जाए, तो इसमें दीवारों की चौकी और प्राचीन क्षत्रीय प्रासादों के अन्य अवशेष अवश्य मिलेंगे।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि यदि विशेष रूप में मकबरे ही बनाए गए थे, तो ये हिन्दू लक्षणों से युक्त क्यों हैं ? एक अन्य प्रश्न भी है कि यदि वे मृत शहंशाहों के वास्तविक मकबरे हैं, तो फिर जीवित व्यक्तियों के उन्हीं के समरूप महल कहाँ हैं ?

इलाहाबाद का क़िला

इलाहाबाद का क़िला भी अकबर के साथ गलती से सम्बद्ध किया जाता है। यह अनेक सूत्रों से सिद्ध किया जा सकता है कि अकबर से शताब्दियों पूर्व भी इलाहाबाद का क़िला विद्यमान था। सीप के कोर के समान कटे हुए किनारे के नमूने की रिबन के समान एक पतली-लम्बी अनियमित रेखा दीवार के मध्य उच्च बाढ़-सीमा धरातल पर चलती है। वह नमूना और संगम की ओर निहारती हुई खिड़कियों की आलंकारिक कलाकृति, क़िले के अन्तःकक्षों में से कुछ में उलझी हुई संगतराशी, और

क़िले के भीतर ही अशोक स्तम्भ, पातालेश्वर मन्दिर और अक्षय वट-वृक्ष का अस्तित्व ही इस बात के प्रमाण हैं कि क़िला अकबर से शताब्दियों पूर्व भी विद्यमान था। जब हर्ष जैसे महाराजा प्रयाग अर्थात् इलाहाबाद की यात्रा अपनी सर्वस्व सम्पत्तिदान करने के लिए किया करते थे, तब वे क़िले में ही ठहरते थे। अतः इलाहाबाद का क़िला मुस्लिम युग-पूर्व का अत्यन्त प्राचीन स्मारक है, और इसके निर्माण का श्रेय अकबर को देते समय फर्ग्युसन ने समुचित ध्यान नहीं दिया। अन्य इतिहासकारों ने भी उसी के आधार पर अकबर को क़िले का निर्माता मानकर विचार करने के प्रकार में दोष उत्पन्न कर दिया है। यह इस बात का एक विशिष्ट उदाहरण है कि कुछ भयंकर भूल करने वाले लेखकों की ऊल-जलूल कल्पनाओं के कारण भारतीय मध्यकालीन इतिहास ग्रन्थ किस प्रकार तथ्यों से विहीन हो गए हैं।

अहमदाबाद के स्मारक

किस प्रकार सभी राजपूत स्मारक परवर्ती मुस्लिम शासकों से सम्बद्ध कर दिए गए हैं, इसका अन्य उदाहरण अहमदाबाद है।

अहमदशाह-प्रथम के नाम पर अहमदाबाद कहलाने से पूर्व यह नगर राजनगर, कर्णवती और अशावल नाम से पुकारा जाता था। इसका इतिहास बहुत प्राचीनकाल तक जाता है। अहमदशाह बहुत ही धर्मान्ध और अत्याचारी शासक था। जैसा मुस्लिम शासकों का नित्य का अभ्यास था, उसी प्रकार अहमदशाह ने भी अधिगृहीत राजपूत मन्दिरों और राजप्रासादों को मस्जिदों और मकबरों के रूप में इस्तेमाल किया। उसके द्वारा की गई असह्य लूट-खसोट और विध्वंस की एक झलक दिल्ली से प्रकाशित 'कारवाँ' नामक पत्रिका के 'अगस्त' 59' के गुजरात-विशेषांक में श्री अशोककुमार मजमूदार के 'तीन सन्त' शीर्षक लेख से मिल सकती है।

उसमें उन्होंने लिखा है—"सन् 1414 में गुजरात के सुल्तान अहमदशाह ने अपने राज्य-भर के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने के लिए एक

अधिकारी नियुक्त किया। उसने इस कार्य को अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। अगले वर्ष, सुल्तान स्वयं ही सिद्धपुर गया और सिद्धराज के सुप्रसिद्ध रुद्र–महालय मन्दिर को उसने तोड़ा, और फिर इसको मस्जिद में बदल दिया······कुख्यात नृशंस अत्याचारी शाह महमूद बघर्रा का शासनकाल (सन् 1458 से 1511) अभी प्रारम्भ होना शेष था।'' स्पष्ट रूप में 'नष्ट' शब्द का अर्थद्योतन यहाँ इतना ही है कि केवल हिन्दू आराध्यदेव ही नष्ट किए गए थे, और उन्हीं भवनों को अपने अधीन कर मस्जिदों के रूप में इस्तेमाल किया गया था।

अहमदाबाद–स्थित कई स्मारकों को अहमदशाह के शासन से सम्बद्ध करने वाले अनेक अप्रकट भ्रान्तिकारी वर्णनों के होते हुए भी बहुत–से सूत्र हैं जो सिद्ध करते हैं कि वे इमारतें उसके द्वारा निर्मित नहीं थीं, केवल उपयोग में, व्यवहार में, लाई गई थीं।

अहमदाबाद की प्राचीन प्राचीर में घिरे हुए नगर का घनी बस्ती वाला क्षेत्र अभी भी 'भद्रा' कहलाता है। यह संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ ''मंगलप्रद'' है। इस नाम के पड़ने का कारण यह था कि यह नगर मन्दिरों से भरपूर था। वे सभी मन्दिर अब मस्जिदों में बदल दिए गये हैं। अन्य सभी नगरों की तुलना में अहमदाबाद में आज मस्जिदें ही मस्जिदें हैं। प्रायः प्रत्येक कुछ सौ गजों के अन्तर पर एक मकबरा या मस्जिद है। सबसे बढ़कर बात यह है कि वे सभी आलंकारिक राजपूत शैली में हैं।

अहमदशाह के शासनकाल में अहमदबाद की मुस्लिम जनसंख्या अत्यन्त अल्प थी। इसलिए यह असम्भव ही था कि अपनी प्रजा के इतने अल्पांश वर्ग के लिए सारी नगरी–भर में कोई शासक मस्जिदें-ही–मस्जिदें बना दे। और न ही, वह मस्जिदों और मकबरों को हिन्दू मन्दिरों की शैली पर बनवा सकता था। हिन्दू स्थापत्यकला से अगाध और एकनिष्ट प्रेम करने वाला कोई भी व्यक्ति अहमदशाह की भाँति न तो मन्दिरों को नष्ट–भ्रष्ट करेगा, न उनको मस्जिदों में बदलेगा, और न ही मनुष्यों को लूटेगा अथवा उनका नरसंहार करेगा। अहमदशाह ने तो जल्लाद का कार्य किया था।

और भी बात है। यदि उसने (मूलरूप में) मस्जिदें बनवाई होतीं, तो 'भद्रा' नाम का पुराना हिन्दू नाम प्रचलित होने की अनुमति उसने कभी न दी होती।

भद्रा क्षेत्र में पहुँचाने के लिए 'तीन दरवाज़ा' नाम से पुकारा जाने वाला ऊँचा तीन मेहराबों वाला प्रवेश-द्वार स्वयं ही आलंकारिक हिन्दू शैली में है। इसके स्थापत्य की तुलना समीपस्थ डभोई और मोढेरा के हिन्दू स्मारकों से की जा सकती है।

तथाकथित जामा मस्जिद

जामामस्जिद नाम से पुकारी जाने वाली, अहमदाबाद की प्रमुख मस्जिद पुरातन भद्रकाली मन्दिर था। वही नगर की आराध्या देवी का स्थान था। द्वारमण्डल से लेकर अन्दर पूजास्थल तक हिन्दू-कलात्मकता की दिग्दर्शक विषम संगतराशी है। मुख्य प्रार्थना-स्थल में पास-पास स्थित लगभग 100 से ऊपर खम्बे हैं जो केवल हिन्दू-देवियों के मन्दिर में होते हैं। वास्तविक, असली, मूलरूप में मस्जिदों के प्रार्थना-कक्ष में एक भी खम्बा नहीं होता क्योंकि सामूहिक नमाज़ के लिए खुला प्रांगण चाहिए।

पूजागृह के गवाक्षों में गड़े हुए प्रस्तर-पुष्प-चिह्न हैं, जो नित्याभ्यास लूटे हुए और परिवर्तित स्मारकों के सम्बन्ध में मुस्लिमों की ओर से हुआ ही करता था। इस विशाल मन्दिर का एक बड़ा भाग अब कब्रिस्तान के रूप में उपयोग में लाया गया है।

संगतराशी से पुष्प, जंजीर, घण्टियाँ और गवाक्षों जैसे अनेक हिन्दू लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। देवालय की दो आयताकार चोटियों में से एक को बिल्कुल उड़ा दिया गया है, जैसा कि उन्मत्त मुस्लिम विजेताओं द्वारा नगर में प्रथम बार प्रविष्ट होने के अवसर पर ही हो सकता था।

अहमदशाह के द्वारा भीषण तबाही के पश्चात् जो भगदड़ मची उसमें उजड़े और देखभाल से वंचित मन्दिरों के आलंकारिक प्रस्तर खण्ड अभी भी अहमदाबाद के आम रास्तों पर आधे गड़े पड़े हैं। हिन्दू कलाकृति वाले बड़े-

बड़े पत्थर, जो भवनों से गिरा दिए गए थे, अब भी धूल से आच्छादित और उसी में समाए पड़े हैं। एक ऐसा ही फलक तथाकथित जामा मस्जिद के सामने महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित जन–शौचागार में इस्तेमाल किया गया है।

इस तथाकथित जामा मस्जिद के सम्बन्ध में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना 1964–65 में घटी। मैंने अपने एक लेख में यह सिद्ध किया था कि जामा मस्जिद कहलाने वाली अहमदाबाद (कर्णवती उर्फ राजनगर) की वह इमारत प्राचीन नगर–देवता एवं राजदेवता भद्रकाली का मन्दिर था। मेरे इस प्रकार के लेख ई० सन् 1964 के आसपास कुछ मासिकों में प्रकाशित होने के कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद के के०सी०ब्रास (कान्तिचन्द्र ब्रदर्स) नाम की एक दुकान पुरानी होने के कारण उसके स्वामी ने उसे गिरवाकर इसी स्थान पर एक ऊँची हवेली खड़ी करवा दी। तथाकथित जामा मस्जिद के निकट ही यह हवेली इस तथाकथित मस्जिद से ऊँची हो गई। हिन्दुओं से एक नया विवाद आरम्भ कर देने का एक अच्छा अवसर मुसलमानों को मिल गया।

अहमदाबाद के तथाकथित जामा मस्जिद के विश्वस्तों (Trustees) ने के० सी० ब्रदर्स (कान्तिचन्दन ब्रदर्स) पर न्यायालय में दावा दाखिल किया कि उन्हें उनकी नयी हवेली गिरवाने का आदेश दिया जाए। बड़े चिन्तित होकर के.सी. ब्रदर्स। इस संकट से हवेली बचाने का उपाय हितचिन्तकों से पूछने लगे। किसी ने उन्हें बताया कि पु०ना० ओक नाम के कोई इतिहासज्ञ हैं जिनके कथनानुसार अहमदाबाद की जामामस्जिद प्राचीनकाल में भद्रकाली का मन्दिर था। तब उन्होंने मेरा पता ढूँढ़कर मुझे पत्र द्वारा अपनी कठिन समस्या से अवगत कराया। मेरे सुझाव पर के०सी० ब्रदर्स ने अपने वकील के द्वारा प्रतिवादी का उत्तर न्यायालय में प्रस्तुत किया। उसमें कहा गया था कि जिस इमारत को मुसलमान मस्जिद कह रहे हैं वह एक अपहृत हिन्दू मन्दिर होने के कारण मुसलमानों का उस भवन पर कोई अधिकार ही नहीं प्राप्त होता, अतएव के०सी० ब्रदर्स की हवेली गिराने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह उत्तर मुसलमानों को पहुँचते ही मुसलमानों ने

तुरन्त अपना दावा वापस ले लिया। उन्हें डर यह पड़ी कि यदि यह दावा चल पड़ा तो के०सी० ब्रदर्स की हवेली गिराना तो दूर ही रहा मस्जिद कहलाने वाली इमारत ही हाथों से निकल जाएगी।

जो लोग ऐसा पूछते हैं कि यदि ताजमहल, लालक़िला आदि इमारतें हिन्दुओं की सिद्ध हो जाती हैं तो उससे लाभ ही क्या है? उन्हें ऊपर लिखे के०सी० ब्रदर्स के उदाहरण से यह जान जाना चाहिए कि सत्य का शोध कभी व्यर्थ नहीं जाता। ऐसी खोज से विविध अज्ञात प्रकार के लाभ हो सकते हैं। उनमें से एक ब्यौरा ऊपर दिया गया है।

दिल्लीवाली 'जामा मस्जिद'

पुरानी दिल्ली स्थित जामा मस्जिद भी अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इब्न बतूता, तैमूरलंग आदि मुसलमानों ने ही साफ-साफ लिखा है कि वह मन्दिर था। तथाकथित कुतुबमीनार, लालक़िले, जामा मस्जिद आदि भारत-भर की इमारतें चुने हुए गेरुए रंग के पत्थर की बनी हैं। यदि गेरूए रंग के कपड़े पहना हुआ व्यक्ति हिन्दू संन्यासी होता है तो क्या गेरुए रंग के पत्थर में बनी इमारत हिन्दू मन्दिर नहीं होगी? इस्लामी इमारतें या तो सफेद चूने की होती हैं या हरी। गेरुआ तो ठेठ हिन्दू ध्वज का रंग है। अतएव स्थान-स्थान और नगर-नगर के हिन्दू जागृत होकर अपने-अपने प्राचीन मन्दिरों एवं धर्मक्षेत्रों का कब्जा माँगें।

उदयपुर

मेवाड़ ने महाराणाओं के नेतृत्व में पाशवी इस्लामी आक्रमणों का जो डटकर विरोध किया, वह प्रशंसनीय है। तथापि इससे पाठक या श्रोताओं को यह समझना उचित नहीं होगा कि इस्लाम का प्रवेश मेवाड़ में नहीं हुआ या मेवाड़ में इस्लाम की छाप कहीं दिखाई नहीं देती।

प्राय: भारत में ऐसा एक भी प्रमुख नगर या देवस्थान नहीं बचा है जो इस्लाम ने भ्रष्ट न किया हो। प्रत्यक्ष उदयपुर में इसके कई उदाहरण देखे जा सकते हैं। इतना ही नहीं, अपितु हिन्दुओं की ही लापरवाही, अज्ञान और मूर्खता के कारण इस्लाम के पंजे और चंगुल में जो-जो हिन्दू स्थान फँसते गए, उन्हें कुछ ही समय में इस्लाम-निर्मित स्थान ही समझा जाने लगा। हिन्दू इतिहासकार, सरकारी अधिकारी और पुरातत्त्ववेत्ताओं की यह बड़ी भूल है।

इसके असंख्य उदाहरण हैं। इस्लामी प्रचार को सत्य मानकर छीने हुए हिन्दू स्थान इस्लाम-निर्मित भवन समझने की भूल हिन्दू लोग लगातार करते आ रहे हैं।

इस सम्बन्ध में उदयपुर का एक उदाहरण देखिए। उस नगर के पिचोला सरोवर में जगमन्दिर द्वीप है। वहाँ महाराणाजी के प्रासाद बने हुए हैं। वहाँ भला मुसलमानों का क्या काम? मुसलमानों का तो वहाँ कोई सम्पर्क भी नहीं होना चाहिए। किन्तु वहाँ भी इस्लाम का अस्तित्व है। उस द्वीप पर एक प्राचीन शिवमन्दिर में एक सूफी कपूरबाबा का चिल्ला यानी बैठने का स्थान बताया जाता है। कपूर नाम तो हिन्दू है। वह कोई स्थानिक हिन्दू साधु रहा होगा। इसलिए इसका आश्रम शिवमन्दिर से जुड़ा हुआ था। किन्तु शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) ने जब महाराणा का आश्रय माँगा तो सुरक्षा के लिए उसे उस द्वीप पर ठहराया गया। उस समय इस्लामी प्रथा के अनुसार खुर्रम के मुसलमान सरदार, दरबारी और नौकर-चाकरों ने आश्रय के लिए कृतज्ञ होने के बजाय गुम्बद पर चाँद का कलश लगा दिया और साधु कपूर के आश्रम को फकीर का चिल्ला कहना आरम्भ कर दिया। तब से मूर्खता से लोग इन इमारतों को शाहजहाँ द्वारा बनाई गई इमारतें समझते हैं। ऐसा अन्याय और अंधेर ऐतिहासिक भवनों के मूल निर्माताओं के सम्बन्ध में पग-पग पर दिखाई देता है।

अतएव सत्य इतिहास के जो भी भक्त हों उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भारत की ही नहीं, बल्कि विश्व में जितनी भी विख्यात

इमारतें हैं या प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं वे इस्लाम-निर्मित नहीं हैं। आरम्भ से इस्लाम की यह प्रथा रही है कि दूसरों की इमारतों पर कब्जा करना और कुछ पीढ़ियों के पश्चात् यह कहना प्रारम्भ करना कि वे भवन मूलतः मुसलमानों ने ही बनवाए।

झूलते स्तम्भ

कुछ स्मारकों में ऐसे स्तम्भ हैं जो विलक्षण इंजीनियरी कौशल के अद्‌भुत नमूने हैं। यदि कोई दर्शनार्थी इन स्तम्भों में से किसी की ऊपरी मंजिल पर चढ़कर, अपने दोनों हाथों से इस स्तम्भ की खिड़की को पकड़ ले, कुछ क्षण बार-बार पकड़कर इसको छोड़ दे, तो उसे विचित्र अनुभूति यह होगी मानो उसके नीचे स्तम्भ का भाग हिल रहा हो। सहोदर-स्तम्भों में जाने वाला कोई भी दर्शनार्थी इसी बात का अनुभव करेगा। इंजीनियरी-कौशल का वह विरला नमूना और अहमदाबाद की अधिकांश तथाकथित मस्जिदों में मिलने वाला उत्कृष्ट दीवारों में चौकोर छेद का प्रकार सभी के सभी हिन्दू-स्थापत्य-प्रतिभा का परिणाम हैं, क्योंकि ये सब तथाकथित मस्जिदें और मकबरे पूर्वकालीन हिन्दू भवन हैं।

इस प्रकार की इमारतें, जो थोड़ा धक्का लगाने पर झूलती हैं, भारत में कई स्थानों पर हैं। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र प्रान्त के जलगाँव जिले के महसवे और फरकांडे नाम के दो देहातों में प्राचीन देवालयों के मीनार और दीप स्तम्भ हिलाने पर झूलते हैं। पंजाब के गुरुदासपुर नगर में भी ऐसी झूलने वाली एक इमारत है। प्राचीन स्थापत्यकला के संस्कृत ग्रन्थों में झूलने वाले भवन या स्तम्भ बनाने का रहस्य कहाँ लिखा है, इसका शोधन होना चाहिए। प्रगत समझे जाने वाले योरोपीय स्थपति स्वयं इस प्राचीन भारतीय कारीगरी पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं। अहमदाबाद (कर्णावती) के झूलने वाले मीनारों की इमारत का तीन अंग्रेजों ने रहस्य ढूँढ़ना चाहा। उनमें से एक व्यक्ति ने एक मीनार को पकड़कर खूब हिलाया। तो दोनों मिनारें ऐसी

हिलती रहीं जैसे धरती कंपन से डगमगाती है। अन्य दो साथी बीच के आँगन में छत पर लेट गए। उनका अनुमान था कि एक मीनार हिलाने पर उसकी लहरें छतवाले आँगन से दूसरी मीनार के तले पहुँचकर उसे कंपित करती होंगी। तथापि छत के आँगन में लेटे उन दो व्यक्तियों को उनके पीठों के तले आँगन से ऐसी कोई लहरें दौड़ने का अनुभव नहीं हुआ।

धार

धार संस्कृत नाम है। यह नगरी प्राचीनकाल में समृद्धशाली साम्राज्य की राजधानी थी। इसलिए इसमें अनेक मन्दिर और राजप्रासाद थे। इनमें से अधिकांश अब मस्जिदों का रूप धारण किए खड़े हैं। उनकी बाह्याकृति ही सभी को यह विश्वास दिला देगी कि इनका मूलोद्‌गम मन्दिरों के रूप में हुआ था। इससे भी बढ़कर बात यह है कि इस बात का लिखित प्रमाण भी उपलब्ध है। धूल में आच्छादित और दीवारों में गड़े हुए पत्थरों पर संस्कृत भाषा में साहित्य उत्कीर्ण है।

एक सुस्पष्ट उदाहरण उस स्मारक का है जो छद्मरूप में कमाल मौला मस्जिद कहलाती है। कुछ वर्ष पूर्व जब उस भवन का कुछ अंश उखड़कर नीचे गिर पड़ा, तब उसमें प्रस्तर फलक दिखाई पड़े जिन पर संस्कृत-नाटकों के पृष्ठ के पृष्ठ उत्कीर्ण किए भरे पड़े थे। अब यह सत्य प्रस्थापित हो चुका है कि 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक स्मारक संस्कृत-साहित्य के अनूठे पुस्तकालय के रूप में था। यह पुस्तकालय इस दृष्टि से अनूठा था कि इसमें जो साहित्य संग्रहीत था, वह नश्वर कागजों पर न होकर, प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण था। यह उदाहरण इतिहास, पुरातत्त्व और वास्तुकला के विद्यार्थियों को इस बात के लिए प्रेरित करने की दृष्टि से पर्याप्त होना चाहिए कि वे उन सभी मध्यकालीन स्मारकों की सूक्ष्मरूप में जाँच-पड़ताल करें, जो आज मकबरे या मस्जिदों के रूप में घोषित हैं। निश्चित है कि खोज से अवश्य ज्ञात हो जाएगा कि ये प्राचीन राजपूत मन्दिर और राजप्रासाद थे।

मराठवाड़ा विश्वविद्यालय की मूर्खता

महाराष्ट्र के मराठवाड़ा प्रदेश में एक नगर है जो प्राचीन काल में हिन्दू राजनगरी होने से कटकी कहलाता था। उसकी प्राकृत रूप खड़की बना। शाहज़ादा औरंगज़ेब मुग़ल राज्य का सूबेदार बनकर उस नगर में दो बार रहा। तब से खुशामदकारों ने कटकी उर्फ खड़की को औरंगाबाद कहना प्रारम्भ किया। भारत स्वतन्त्र होने पर भी वही पराया नाम उस नगर से चिपका है। वहाँ से देवगिरि का क़िला लगभग सात मील दूरी पर है। हिन्दू प्रथा में राजधानी के नगर को किसी क़िले का संरक्षण अवश्य होता था। उसी आधार पर देवगिरि और कटकी का अटूट सम्बन्ध था।

उस नगरी से न केवल एक पराया नाम चिपका है, अपितु एक झूठा, कपोलकपित इतिहास भी उस नगर पर मढ़ दिया गया है। वर्तमान सरकार-छाप इतिहासकार निराधार ही पढ़ते-पढ़ाते रहते हैं कि अहमदनगर (हिन्दू नाम अम्बिकानगर) के इस्लामी राज्य का मुख्यमन्त्री हबशी मलिकंबर ने खड़की नगर बसाया। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का इतिहास विभाग भी आँख मूँदकर यही झूठी बात दोहराता रहता है। जब स्वयं मलिकंबर कहीं नहीं कहता कि खड़की नगर उसने बसाया। अनेक बाजारों में बिका हुआ वह एक गुलाम था जो मध्ययुगीन उथल-पुथल, मारकाट और विश्वासघातों के कुचक्र में भाग्यवशात् निजामशाही का महामन्त्री बना। किन्तु नगर बसाना क्या हँसी-मजाक है? और क्या एक वर्ष में नगर बनाया-बसाया जाता है? और वह उसे कटकी (खड़की) यह संस्कृत नाम क्यों देता?

उस नगर में ताजमहल के ही नमूने पर बना एक प्राचीन विशाल शिव-मन्दिर है। उसमें तहखाना, अनेक मंजिलें और सैकड़ों कक्ष हैं। इस्लामी आक्रामकों ने उसके अन्दर एक झूठी कब्र बनाकर उस इमारत को बीवी का मकबरा कहना आरम्भ कर दिया। तब से एक अफवाह यह है कि औरंगजेब ने दिलरस बानू नाम की मृत बेगम को वहाँ गाड़कर वह भवन रचा, अतएव उसे बीवी का मकबरा कहते हैं। दूसरी किंवदन्ती यह है कि उसके पुत्र महमूद

आजम ने माता के स्मारक में वह इमारत बनवाई। यदि ऐसा होता तो अम्माजान की कब्र कहते, न कि बीवी का मकबरा। तीन सौ वर्ष यही दो अफवाएँ थीं। किन्तु 1972 में वहीं के (College of Education) शिक्षा महाविद्यालय के एक प्राध्यापक, शेख रमझान ने एक प्रबन्ध लिखकर वहीं के विश्वविद्यालय से Ph.D. पदवी पाई। उस प्रबन्ध में यह प्रतिपादित है कि वह इमारत न तो औरंगजेब ने बनवाई और न ही आजम ने, अपितु दिलरस बानू ने अपने ही जीवनकाल में बड़े शौक से गाँठ के छह लाख रुपये खर्च कर वह विशाल इमारत अपने प्रेत के लिए विश्राम एवं विराम स्थान हेतु बनवाई। औरंगाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने सोचा कि एक इमारत, जो भिन्न-भिन्न दो मुसलमानों ने बनाई समझी जाती थी वह यदि एक तीसरा कोई मुसलमान (प्राध्यापक) लिखता है कि किसी चौथे मुसलमान की बनाई है तो भला हमें इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? अन्ततोगत्वा वह इमारत है तो किसी मुसलमान की ही। ऐसी अवस्था में वह एक नित्य मिलने-जुलने वाला, परिचित मुसलमान प्राध्यापक दो-तीन वर्ष लगाकर एक मोटा-सा प्रबन्ध लिखकर प्रस्तुत करता है तो उसे Ph.D. दे डालने में किसी के बाप का क्या बिगड़ सकता है? किसी प्रबन्ध पर ऐसे बावले प्रकार से किसी विश्वविद्यालय द्वारा Ph.D. की उपाधि दे डालना एक विश्वविद्यालय के लिए कितनी लज्जा एवं मूर्खता की बात है। इस पर रोष और विरोध प्रकट करने वाला मेरा पत्र वहाँ के दैनिक 'लोकमत' में 23 सितम्बर, 1972 के अंक में छपा था। उसमें मैंने यह आह्वान दिया था कि तथाकथित बीवी का मकबरा एक अपहृत हिन्दू इमारत है। यदि हिम्मत हो तो किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में औरंगाबाद विश्वविद्यालय एक परिसंवाद आयोजित करे, जिसमें मेरे विरोध में वे चाहे जितने इतिहासकार खड़े करें, फिर देखते हैं किसकी जीत होती है। विश्वविद्यालय चुप बैठ गया।

मदरसा

मध्यकालीन स्मारकों के खुले प्रांगण, वार्तालाप-कक्ष भाग यात्रियों

को 'मदरसे' बता दिए जाते हैं। विचार करने की बात है कि मध्यकालीन इस्लामी शासन के अन्तर्गत, जब अशिक्षित शासकों का राज्य था और सम्पूर्ण शैक्षिक योग्यता का अर्थ केवल कुरान का पूर्ण पाठ करने की क्षमता-भर था और वह भी केवल मुस्लिम जनसंख्या के अल्पांश को ही पढ़ाने तक सीमित था, तो ऐसा कौन-सा शासक हो सकता था जो घोर व्यसनी और मद्यपी होते हुए भी शिक्षणालय के रूप में अतिविशाल भवनों का निर्माण करता!

मदरसा शब्द का रहस्य—भारत में जहाँ देखो वहाँ ऐतिहासिक इमारतों के विशाल दालान बतलाते हुए स्थलदर्शक (guides) प्रेक्षकों को कहते रहते हैं, ''यह मौहम्मद तुगलक का मदरसा, वह अलाउद्दीन खिलजी का मदरसा, वह अन्य मौहम्मद गवान का मदरसा, इत्यादि।'' भारत में इतने ढेर के ढेर मदरसे खोलने की आवश्यकता इन आक्रामकों को क्यों पड़ी?

अतएव उस 'मदरसा' शब्द का रहस्य समझना नितान्त आवश्यक है। इस्लामी आक्रमणों से पूर्व भारत में विद्यमान संस्कृत प्रणाली के अनुसार सर्वत्र 'शाला' शब्द का प्रयोग होता था। जैसे पाठशाला, चन्द्रशाला, भोजशाला, वेदशाला, यज्ञशाला, रंगशाला, वेधशाला, गजशाला, वैद्यशाला इत्यादि-इत्यादि। इन सारे भवनों पर कब्जा करने के पश्चात् मुसलमान जब उनमें रहने लगे तो विविध दालानों के नाम पूछने पर उन्हें 'शालाशाला' शब्द ही सर्वत्र सुनाई दिया। उसका इस्लामी अनुवाद उन्होंने 'मदरसा' कर डाला। अतएव जिस भवन में मौहम्मद तुगलक ने अपना सामान रखा वह भवन तुगलक का मदरसा कहलाया और जिस पर मौहम्मद गवान ने कब्जा किया उसे लोग मौहम्मद गवान का मदरसा कहने लगे। इस 'मदरसा' नाम से ही एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि क्रूर इस्लामी आक्रामकों द्वारा कब्जा किए हुए सारे ऐतिहासिक भवन हिन्दुओं के भवन थे। दक्षिण भारत में तमिल प्रान्त की राजधानी मद्रास—इस नाम से हम कह सकते हैं कि प्राचीनकाल में वहाँ अवश्य ही कोई वेद विद्यालय दीर्घ समय तक चलता रहा होगा, अतएव उस नगर का नाम इस्लामी आक्रमण के काल में मदरसा उर्फ मद्रास पड़ गया।

आधार ग्रन्थ-सूची

1. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया एज़ रिटन बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, बाइ सर एच०एम० इलियट एण्ड प्रो० डासन, वोल्यूम्स 1 से 8।
2. अबुल फ़जल्स अकबरनामा, वोल्यूम्स 1 से 3, बिब्लियोथीका इण्डीका सीरीज़।
3. ट्रांजेक्शन्स ऑफ़ दि आर्क्योलॉजिकल सोसायटी ऑफ़ आगरा।
4. दि XIX सेन्चुअरी एण्ड आफ़्टर—ए मंथली रिव्यू, एडिटेड बाइ जेम्स नोल्स।
5. पीटर मुण्डेज़ ट्रेवल्स।
6. कमेंटेरियस।
7. ट्रेवल्स इन इण्डिया बाइ टेवरनियर।
8. हिस्ट्री ऑफ़ दि शाहजहाँ ऑफ़ दिल्ली बाइ प्रोफेसर बी०पी० सक्सेना।
9. तारीखे-फिरोज़शाही बाइ शम्से-शीराज़-अफ़ीफ़।
10. रैम्बल्स एण्ड रिकलैक्शन्स ऑफ़ एन इण्डियन आफ़िशल, बाइ ले०क० डब्ल्यू० एच० स्लीमन।
11. इम्पीरियल आगरा ऑफ़ दि मुग़ल्स, बाई केशवचन्द्र मजूमदार।
12. तारीखे-दाऊदी।
13. कीन्स हैण्डबुक फ़ॉर विजिटर्स टु आगरा एण्ड इट्स नेबरहुड।
14. महाराष्ट्र ज्ञानकोष, वोल्यूम्स 1 से 23।

सिकन्दर की पराजय जो वीर पोरस पर उसकी महान् विजय कहलाती है

भारत से शत्रुता करने वाले आज के पड़ोसियों के सुगम आक्रमणों से सर्वथा विभिन्न, प्राचीन भारत की सुदृढ़ सुरक्षा-पंक्ति के कारण उस समय के आक्रमणकारी लड़खड़ाते और नाक रगड़ते हुए वापस जाने पर विवश हुए थे।

ऐसा ही एक दुस्साहसी यूनान का सिकन्दर था जिसने भारत की सीमाओं के साथ छेड़खानी करने पर अपने जीवन की कटुतम घूँट का पान किया और दुर्गति होने के कारण जो अपने प्राण ही गँवा बैठा।

किन्तु सिकन्दर की पराजय होने पर भी, हमारे इतिहासकार उसके दुर्भाग्य को भारत की अजेय सन्तान पोरस पर उसकी महान् विजय वर्णन करते अघाते नहीं। असत्य का यह घोर इतिहास भारतीय इतिहास में इसलिए पैठ गया है क्योंकि हमको उस महान् संघर्ष के जितने भी वर्णन मिले हैं, वे सबके सब यूनानी इतिहासकारों के किए हुए हैं। और यह तो सर्वज्ञात है ही कि घोर पराजयों से अपना मुख काला करने वाले आक्रमकारी भी अपने पराभवों को विजय के आवरण में, छद्म रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही बात सिकन्दर की भारतीय वीर पुरुषों से भिड़न्त में हुई है।

सिकन्दर महान्''''जैसाकि वह पुकारा जाता है''''ईसा पूर्व 356 में जन्मा था। वह मेसेडोनिया के राजा फ़िलिप द्वितीय और एपिरोट की शाहज़ादी ओलिम्पियस का पुत्र था। अपनी राजनीति-निपुणता एवं

युद्धचातुर्य के लिए फ़िलिप तो विख्यात था, किन्तु कहा जाता है कि सिकन्दर की माता असंस्कृत, अशिक्षित, अशोभन, एक अभिचारिणी एवं आलसी महिला थी।

जब सिकन्दर 14 वर्ष का हो गया, तब उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू को नियुक्त किया गया। सिकन्दर का निरंकुश अदम्य साहस शैक्षिक अनुदेशों अथवा दार्शनिकतापूर्ण परामर्श के वशीभूत न हो पाया। अपने गुरु के पास विनीत भाव से बैठे रहने की अपेक्षा यात्रियों, साहसी व्यक्तियों, सैनिकों और राजदूतों के मुख से नये-नये वर्णन सुनना सिकन्दर को अधिक रुचिकर थे।

इस समय सिकन्दर के माता-पिता के मध्य पारिवारिक कलह बढ़ गई और उन लोगों ने पृथक् हो जाने का निश्चय किया। फ़िलिप ने क्लियोपैट्रा नामक दूसरी पत्नी बना ली। रानी ओलिम्पियस राजमहल छोड़कर चली गई। सिकन्दर, जिसका उद्दंड स्वभाव अपनी माँ के स्वभाव से ही अधिक मिलता था, अपनी माँ के साथ ही चला गया। फिलिप को क्लियोपैट्रा से एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो राजसिंहासन के लिए समान दावेदार बन गया।

अनेक वर्षों तक सेना को यह ज्ञात रहा था कि सिकन्दर ही शाही युवराज एवं राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी है, अतः उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यासन को बलात् ग्रहण करने में उन लोगों ने सिकन्दर की पूर्ण सहायता की। राज्यासन पर बैठने के पश्चात् सिकन्दर ने अपने चचेरे एवं सौतेले भाई को मरवा डाला था, जिससे राजसिंहासन के लिए अन्य कोई अधिकारी न रहे।

अब सिकन्दर समाहरण और विस्तारण के मार्ग पर चल पड़ा। उसने सबसे पहले विद्रोही पहाड़ी लोगों का दमन किया। फिर, वह पश्चिम की ओर चल पड़ा और डनूब नदी का तटवर्ती क्षेत्र अपने अधीन कर बैठा।

सिकन्दर के प्रस्थान का समाचार सुनकर ईरान के राजा ने सिकन्दर की विजयाकांक्षाओं को रौंद डालने के विचार से उससे भी अधिक संख्या में अपने सैनिक भेज दिए। दोनों की सेनाएँ ग्रेनिकस के तट पर भिड़ गईं।

घमासान युद्ध हुआ। सूर्यास्त होते-होते ईरान की सेना के द्वारा प्रतिरोध ढीला पड़ गया और वह भाग खड़ी हुई।

'एशिया लघु' से बाहर जाने वाले सभी मार्गों पर अब सिकन्दर का पूर्ण अधिकार था। उसने स्थानीय यूनानी उपनिवेशों को स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा कर दी, विजित प्रदेशों पर राज्यपाल नियुक्त कर दिए और स्वयं को सम्राट् घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए हो गए क्योंकि इसकी विशाल यूनानी जनसंख्या एवं सैनिक-शक्ति सहायक सिद्ध हुई थी।

एक वर्ष पश्चात् सिकन्दर ने उत्तरी फ्रिजिया में गोरडियस के राज्य पर आक्रम किया और उसे अपने अधीन कर लिया।

उसने अब 'टायर' को जा घेरा। घेरा सात मास तक चला, और सम्पूर्ण फूनिसिया उसके अधीन हो गया। बाद में गाज़ा पर अधिकार कर सिकन्दर मिस्र में घुसा। ईसा-पूर्व 332-331 के वर्ष की शीत ऋतु मिस्र में ही व्यतीत करने वाले सिकन्दर को ही इसी समय सिकन्दरिया की स्थापना करने का श्रेय दिया जाता है।

मध्य सागर के सम्पूर्ण पूर्वीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर लेने के पश्चात् सिकन्दर ने अपनी आँखें ईरान पर ही लगा दीं। ई०पू० 331 में उसने 20 सितम्बर के दिन टिग्रिस नदी पार की। ज्यों ही वह मोसोपोटामिया से पार गया और आगे बढ़ा, त्यों ही डेरियस के सेनापतित्व में ईरानी सेना गोगमिल नामक स्थान पर उसके सम्मुख आ खड़ी हुई। भयंकर अल्पकालिक संघर्ष हुआ। ईरानी सेना को फिर पराजित होना पड़ा, और डेरियस मीडिया को भाग गया। गोगमिल के युद्ध को 'अरबिल-युद्ध' के नाम से भी पुकारा जाता है; अरबिल इस स्थान से 60 मील दूर एक नगरी है।

सिकन्दर ने परशिया-साम्राज्य के बेबिलोन प्रदेश को भी अपने अधीन कर लिया, और ईरान की राजधानी परसोपोलिस में प्रवेश कर उस समृद्ध नगर को अपने पैरों तले रौंद डाला व फिर उसको आग लगा दी। कहा जाता है कि किसी पूर्व राजा क्षरक्षेस द्वारा यूनानी मन्दिरों को ध्वस्त कर दिए जाने

के बदले में यह जघन्य कार्य किया गया।

डेरियस उत्तर की ओर भागा। किन्तु अब उसकी खोज निरन्तर ी गई। एक राजा दूसरे राजा का पीछा कर रहा था। डेरियस को घेर लिया गया। उसके साथ उसका चचेरा भाई एवं थोड़े से सरदार ही थे। ई० पू० 330 की ग्रीष्म ऋतु थी। इसके पूर्व ही कि सिकन्दर के साथी आगे बढ़कर डेरियस को बन्दी बनाते, डेरियस के साथियों ने उसका प्राणान्त कर दिया और उसका मृत शरीर सिकन्दर को सौंप दिया।

इसके बाद कश्यप (क्षीर) सागर के तटीय पहाड़ी प्रदेशों को रौंदता हुआ सिकन्दर अफ़गानिस्तान की ओर बढ़ गया। अब उसको अपनी विजयों पर घमण्ड होने लगा था। अब वह स्वयं को अर्धेश्वर समझने लगा था और, अपने को पूजन का अधिकारी समझ, बिना नू नच किए अप्रतिरोधित समर्पण चाहता था। उसने ईरानी राजचिह्न व राजोचित वेशभूषा अंगीकार कर ली।

अब सिकन्दर सिन्धु नदी पार कर भारतीय उपमहाद्वीप की सीमाओं पर आ खड़ा हुआ था। सिन्धु पार भारतीय प्रदेश के उत्तरी क्षेत्र में तीन राज्य थे। जेहलम नदी के चहुँ ओर के क्षेत्र पर राजा आम्भि राज्य करता था। तक्षशिला उसकी राजधानी थी। चेनाब से लगते हुए क्षेत्रों पर पोरस का राज्य था, और एक तीसरा राजा अभिसार कश्मीर के चहुँ ओर की भूमि पर शासन करता था। राजा आम्भि का पोरस से पुराना वैर था, अतः उसने सिकन्दर के आक्रमण के समय को अपनी शत्रुता का पूरा-पूरा बदला लेने का उपयुक्त अवसर समझा। अभिसार पोरस और सिकन्दर, दोनों को मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाए रखने का वचन देकर तटस्थ बैठने का निश्चय कर बैठे। इस प्रकार पोरस अकेला ही रह गया, जिसको सिकन्दर का सामना करना था''''सिकन्दर को आम्भि से सभी प्रकार की सक्रिय सहायता प्राप्त थी।

सिन्धु के ऊपर एक स्थायी पुल बना लिया गया, और सिकन्दर की सेनाएँ भारत में प्रविष्ट हो गईं। आक्रामक सेना ने अटक के उत्तर में 16 मील पर पड़ाव डाला। ग्रीक-वर्णनों में अनेक असंगतियाँ, त्रुटियाँ और न्यूनताएँ ढूँढी जा सकती हैं, क्योंकि उनके लिए इसका स्पष्टीकरण करना कठिन है

कि उनके मूर्तिवत् समादरित एवं आत्मश्लाघी सिकन्दर ने भारत में अपकृत्य क्यों किए! इसी कारण वे यह चित्रण करने का ढोंग करते हैं कि अपनी विशालता के कारण सिकन्दर ने अपनी भारत-विजय के परिणाम व्यर्थ कर दिए थे, और वह अपनी मूल भूमि को लौट गया था।

यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि सिकन्दर जब अपने देश को वापस चला, तब तक उसका मद झाड़ दिया गया था, उसका दिल टूट चुका था, वह स्वयं विषम रूप में घायल हो चुका था एवं उसकी विशाल शक्तिशाली सेना बुरी तरह तहस-नहस हो चुकी थी।

प्लूटार्च के अनुसार 20,000 पदाति एवं 15,000 अश्वारोहियों की सिकन्दर की सेना पोरस द्वारा युद्धक्षेत्र में एकत्र की गई सेना से संख्या में बहुत ही अधिक थी। सिकन्दर की सहायता आम्भि की सेनाओं और पारसी सैनिकों ने भी की।

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष के सप्तम भाग के पृष्ठ 531 पर लिखा है कि सिकन्दर और पोरस की सेनाओं का परस्पर संघर्ष चेनाब नदी के तटों पर हुआ था। किन्तु कर्टियस लिखता है कि, ''सिकन्दर जेहलम के दूसरी ओर पड़ाव डाले पड़ा था। सिकन्दर की सेना का एक भाग जेहलम के एक द्वीप में पहुँच गया। पोरस के सैनिक उस द्वीप में तैरकर पहुँचे; उन लोगों ने उसका घेरा डाल दिया और यूनानी अग्रिम दल पर हमला बोल दिया। उन्होंने अनेक यूनानी सैनिकों को मार डाला। मृत्यु से बचने के लिए अनेक यूनानी नदी में कूद पड़े, किन्तु वे सब उसी में डूब गए।''

ऐसा कहा जाता है कि अपनी सेना सहित सिकन्दर ने जेहलम नदी को एक घनी अँधेरी रात में नावों द्वारा हरणपुर से ऊपर 60 मील की दूरी पर तेज़ कटाव के पास पार किया। पोरस के अग्रिम दल का नेतृत्व उसका पुत्र कर रहा था। भयंकर मुठभेड़ में वह मारा गया। ऐसा कहा जाता है कि इस दिन वर्षा हो रही थी और पोरस के विशालकाय हाथी दलदल में फँस गए। किन्तु यूनानी इतिहासकारों द्वारा दिए गए वर्णनों की भी यदि ठीक से सूक्ष्म विवेचना कर ली जाए, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पोरस की गज-सेना ने

शत्रु-शिविर में प्रलय मचा दी थी और सिकन्दर की शक्तिशाली फ़ौज को तहस-नहस कर डाला था।

एर्रियन ने लिखा है कि "भारतीय युवराज ने सिकन्दर को घायल कर दिया और उसके घोड़े 'बूसे फेलस' को मार डाला।"

जस्टिन कहता है कि, "ज्योंही युद्ध प्रारम्भ हुआ, पोरस ने महानाश करने का आदेश दे दिया।"

अनावश्यक रक्तपात रोकने के लिए पोरस ने (उदारतावश) केवल सिकन्दर से अकेले ही निपट लेने का प्रस्ताव रखा। सिकन्दर ने उस (वीर-प्रस्ताव) को अस्वीकार कर दिया। आगे जो युद्ध हुआ उसमें उसका मर्मांतक आघात के कारण उसी के नीचे ढेर हो गया। 'धड़ाम' से युद्धभूमि में गिर जाने पर सिकन्दर को शत्रुओं से घिर जाने का भय उत्पन्न हो गया, किन्तु उसके अंगरक्षकों द्वारा वह वहाँ से लुक-छुपकर खिसका दिया गया।

पोरस के हाथियों द्वारा यूनानी सैनिकों में उत्पन्न आतंक का वर्णन करते हुए कर्टियस ने लिखा है—"इन पशुओं ने घोर आतंक उत्पन्न कर दिया था, और उनकी (तूर्यवादक जैसी) प्रतिध्वनित होने वाली भीषण चीत्कार न केवल घोड़ों को भयातुर कर देती थी जिससे वे बिगड़कर भाग उठते, अपितु घुड़सवारों के हृदय भी दहला देती थी। इसने इनके वर्गों में ऐसी भगदड़ मचायी कि अनेक विजयों के ये शिरोमणि अब ऐसे स्थान की खोज में लग गए जहाँ इनको शरण मिल सके, अब सिकन्दर ने छोटे शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित अग्रेनियनों एवं थ्रेसियनों को आज्ञा दी कि वे गज-सेना के विरुद्ध कार्रवाई करें। इस प्रत्याघात से चिढ़कर उन आहत पशुओं ने क्रुद्ध हो, आक्रमणकारियों पर भीषण हमला कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग उनके पैरों तले रौंद डाले गए। सर्वाधिक हृदय-विदारक दृश्य तो वह था जब यह स्थूल-चर्म पशु अपनी सूँड से यूनानी सैनिक को पकड़ लेता था, उसको अपने ऊपर वायुमण्डल में अधर हिलाता था, और उस सैनिक को अपने आरोही के हाथों में सौंप देता था.... जो तुरन्त उसका सिर धड़ से अलग कर देता था। इस प्रकार, परिणाम सन्देहास्पद था।

कभी मेसेडोनियन लोग हाथियों के पीछे भागते थे, और कभी उनसे दूर-दूर भागने को विवश हो जाते थे। इसी प्रकार सारा दिन व्यतीत हो जाता था, और युद्ध चलता ही रहता था।''

डियोडोरस सत्यापित करता है कि ''विशालकाय हाथियों में अपार बल था, और वे अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुए। उन्होंने अपने पैरों तले बहुत सारे यूनानी-सैनिकों की हड्डियाँ-पसलियाँ चूर-चूर कर दीं। हाथी इन सैनिकों को अपनी सूँडों से पकड़ लेते थे और भूमि में जोर से पटक देते थे। वे अपने विकराल गज-दन्तों से सैनिकों को गोद-गोदकर मार डालते थे।''

ये सब वर्णन स्पष्टत: प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध या तो सूखी ज़मीन पर लड़ा गया था, अथवा यदि भूमि गीली भी थी, तो भी उसमें पोरस की गज-सेना दल-दल में नहीं फँसी थी—जैसा कि असत्य प्रचारित किया जाता है।

पोरस की वीर सेना द्वारा शत्रु-हृदय में प्रस्थापित भयंकर आतंक के इन वर्णनों के होते हुए भी पक्षपातपूर्ण कुछ यूनानी वर्णनों में दावा किया गया है कि पोरस घायल हुआ था, पकड़ा गया था और उसकी सेना को शस्त्र त्याग करने पड़े थे।

अनुवर्ती घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त धारणा मनगढ़न्त एवं स्वार्थप्रेरित विभ्रान्ति है। यूनानी इतिहासकारों की इच्छा यही रही है कि हम विश्वास करें कि असंख्य नरमेध, क्रूर हत्याओं और सम्पूर्ण समृद्ध नगरियों का ध्वंसकर्ता सिकन्दर उस समय अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ था जब बन्दी बनाए जाने पर पोरस ने उससे निर्भीकता से अपने साथ राजा जैसा व्यवहार करने को कहा था, और सिकन्दर ने न केवल उसे उसका प्रदेश उदारतावश वापस कर दिया था, अपितु अपनी ओर से भी कुछ और प्रदेश पोरस को दे दिया।

'ईथोपियाई महाकाव्यों' का सम्पादन करने वाले श्री ई०ए०डब्ल्यू० बैज ने अपनी रचना में सिकन्दर के जीवन और उसके विजय अभियानों का वर्णन सम्मिलित किया है। उनका कहना है कि, ''जेहलम के युद्ध में सिकन्दर की अश्व सेना का अधिकांश भाग मारा गया था। सिकन्दर ने

अनुभव कर लिया था कि यदि मैं लड़ाई जारी रखूँगा, तो पूर्ण रूप से अपना नाश कर लूँगा। अतः उसने युद्ध बन्द कर देने के लिए पोरस से प्रार्थना की। भारतीय परम्परा के सत्यानुरूप ही पोरस ने शरणागत शत्रु का वध नहीं किया। इसके बाद दोनों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए। अन्य प्रदेशों को अपने साम्राज्याधीन करने में, फिर, पोरस की सहायता सिकन्दर ने की।"

सिकन्दर की पराजय के लिए श्री बैज द्वारा दिया गया कारण यह है कि उसके सैनिक युद्ध में अपने हजारों साथियों की क्षति से अति दुःखित हो चुके थे। उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र फेंक दिए और अपने नेता से शान्ति के लिए प्रयत्न करने की प्रार्थना की। श्री बैज का कहना है कि शान्ति की प्रार्थना करते समय सिकन्दर ने निवेदन किया था—"श्रीमान् पोरस! मुझे क्षमा कर दीजिए। मैंने आपकी शूरता और सामर्थ्य शिरोधार्य कर ली है। अब इन कष्टों को मैं और अधिक सह नहीं सकूँगा। दुःखी हृदय हो मैं अब अपना जीवन समाप्त करने का इरादा कर चुका हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे सैनिक मेरे ही समान विनष्ट हों। मैं वह अपराधी हूँ जिसने इन सैनिकों को कराल काल के गाल में धकेल दिया है। किसी राजा को यह शोभा नहीं देता कि वह अपने सैनिकों को इस प्रकार मौत के मुँह में धकेल दे।"

अनुवर्ती घटनाओं द्वारा प्रस्तुत ऐसे स्पष्ट साक्ष्यों के होते हुए भी इतिहासकार उपर्युक्त उद्धरण को प्रक्षिप्तांश कहने और इसीलिए उनकी अवहेलना करने के दुराग्रह पर अड़े हुए हैं। तर्क के लिए यह मान लेने पर भी कि उपर्युक्त उद्धरण प्रक्षिप्तांश ही हैं, हम यह प्रश्न करते हैं कि पोरस के सिर को डेरियस के सिर की भाँति काट लाने की शपथ खाकर युद्ध में प्रविष्ट होने वाले सिकन्दर ने न केवल पोरस को जीवन-दान दिया, अपितु उसको बन्दी अवस्था से मुक्त किया, उसको उसका सम्पूर्ण राज्य लौटा दिया और सद्भावनावश पुरस्कार रूप कुछ और प्रदेश भी भेंट में दे दिया। यह कथन उतना ही हास्यापद तथा अयुक्तियुक्त है जितना यह कहना कि किसी पुरस्कार-वितरण समारोह में सहसा प्रकट होकर अपना शीश तीव्र गति से क्रुद्धावस्था में हिलाने वाला भयंकर विषधर-अकस्मात् ही मुस्कराता हुआ

आकर्षक राजकुमार बन गया और पुरस्कार-वितरण करने लगा।

यही तथ्य, कि पोरस ने सिकन्दर से अपना प्रदेश खोने की अपेक्षा कुछ जीता ही था, प्रदर्शित करता है कि सिकन्दर ने न केवल शान्ति के लिए क्षमा-याचना की, अपितु यह भी कि उसका पराभव इतना पूर्ण था कि उसे अपने कुछ भू-क्षेत्र भी पोरस को भेंट करने पड़े थे। इन यूनानी वर्णनों पर भी विश्वास करते हुए कि सिकन्दर ने कुछ भू-प्रदेश जीतने में पोरस की सहायता की थी, यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि अपना घमंड बिल्कुल चूर-चूर हो जाने पर सिकन्दर ने अत्यन्त दयनीयावस्था में पोरस का सहायक हो सेवा करना स्वीकार कर लिया और भारत में अतिक्रमण कर प्रविष्ट होने के दण्डस्वरूप पोरस के लाभार्थ कुछ भू-प्रदेश जीतने का वचन दिया।

सिकन्दर का सामर्थ्य प्राचीन भारत की प्रतिरक्षात्मक लौह-दीवार से टकरा- कर ऐसा चूर-चूर हो गया था कि पोरस के साथ युद्ध के पश्चात् उसके सैनिकों ने और आगे युद्ध करने से बिल्कुल साफ इन्कार कर दिया। यह भली-भाँति कल्पना की जा सकती है कि जब पोरस अकेला ही सिकन्दर और आम्भि की मिली-जुली सामर्थ्य को धूल में मिला सकता था, तो सिकन्दर कभी भी सिन्धु नदी के पार नहीं आता यदि केवल आम्भि की राष्ट्रभक्ति और न्यायबुद्धि पोरस के प्रति उसके शत्रु भाव की दास न हो जाती।

वापस जाने का निश्चय भी कर लेने के पश्चात्, यह स्पष्ट है कि सिकन्दर को उन प्रदेशों से होकर जाने की अनुमति नहीं मिली थी, जिनको उसने पहले जीता था और जिनको भली-भाँति जानता था।

यह लिखित तथ्य भी कि अभिसार ने सिकन्दर से मिलने से इन्कार कर दिया था, सिकन्दर की पराजय का संकेतक है। जैसाकि दावा किया जाता है, यदि वास्तव में सिकन्दर ने पोरस की शक्ति का पराभव किया होता तो अभी तक तटस्थ रहने वाला अभिसार शान्ति बनाए रखने एवं मित्रता अर्जन करने के लिए झटपट सिकन्दर के पास दौड़कर गया होता।

ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार तो हमें विश्वास कर लेना चाहिए कि

सिकन्दर की सेनाएँ बिना प्रतिरोध के, बिना किसी रोक-टोक के, चेनाब तथा रावी नदी पार कर गई थीं। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि जब पोरस ने अपने तत्काल शत्रु सिकन्दर को आम्भि के उत्तरी प्रदेश और वहाँ से सिन्धु के पश्चिम की ओर वापिस लौट जाने से मना किया था, तब पोरस ने विशाल-हृदयतावश अपने प्रदेश के मार्ग से सुरक्षित चले जाने में सहायता देने का आश्वासन दिया था, यदि सिकन्दर दक्षिण की ओर जाता।

ज्यों ही सिकन्दर की सेनाओं ने रावी नदी पार की, त्यों ही भारत की द्वितीय सुरक्षा पंक्ति ने अपना जौहर दिखाया। पोरस ने अपने ही भू-प्रदेश द्वारा उनको संरक्षात्मक व्यूह-रचना में सन्नद्ध कर दिया था। किन्तु उसे ज्ञात था कि हमारे वीर क्षत्रियों द्वारा पूर्ण सन्नद्धता एवं उत्साहपूर्वक आरक्षित भारत के अन्य भागों से भी सिकन्दर अक्षत नहीं जा सकता था। इतना ही नहीं, जब वह अन्य रास्ते से लौटकर जाता तब उसकी वापसी पर उसकी पूरी चटनी बनाई जाती, और विश्व-विजेता होना तो दूर, उसे तो असहाय एवं अकिंचनावस्था में पहुँचा दिया जाता। यही हुआ भी। अतः इतिहास को यह अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि एक पराभूत शत्रु की अपेक्षा पोरस का सम्मान तो उस भारतीय महान् नेता और राजनीतिज्ञ के रूप में अवश्य किया जाना चाहिए जिसने सिकन्दर के अभिमान और उसकी सेना को चूर-चूर कर दिया था; और निर्मद, शोकाकुल एवं प्रायश्चितकर्ता के रूप में ही सिकन्दर को वापस घर भेजने के लिए बाध्य कर दिया था।

रावी और व्यास नदी के मध्य भाग में सिकन्दर की सेनाओं को अनेक विकट लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। प्राचीन काल में भारतीय सेनाएँ इतनी सावधान एवं सतर्क थीं कि वे किसी भी प्रकार का सशस्त्र अतिक्रमण सहन नहीं करती थीं। प्रत्येक नागरिक एक सैनिक था। राष्ट्रभक्ति का स्थान किसी भी प्रकार अपवित्र दयाभाव नहीं ले पाता था। व्यास के तट पर पहुँचते-पहुँचते सिकन्दर के सैनिकों ने और आगे कोई भी लड़ाई लड़ने से साफ़ इन्कार कर दिया क्योंकि शस्त्रधारी होने के कारण उनको प्रत्येक पग पर रोका गया था। विकट सशस्त्र प्रतिरोध किया गया था; वे भूखे रहे थे, उनको घर

की याद सताने लगी थी, वे क्षत-विक्षत एवं युद्ध करने से थक चुके थे। वे अनेक युद्ध लड़ चुके थे। पोरस के साथ उनका युद्ध एशिया में चौथा एवं अन्तिम महान् संघर्ष था। इसकी भयावह स्मृतियाँ उनके लिए हृदय कम्पित कर देने वाली थीं।

जिन मार्गों से सिकन्दर वापस जा रहा था, उनमें उसका आगमन अभिनन्दनीय न होने के कारण सिकन्दर के भूखे मरते सैनिकों ने असावधान नागरिक-समुदायों को लूटना शुरू कर दिया। किन्तु इस तथ्य को यूनानी वर्णनों में इस असत्य दावे का प्रमाण कहकर प्रस्तुत किया गया है कि पोरस के तथाकथित पराभव के पश्चात् और अधिक प्रदेशों को जीतने एवं लूट का माल एकत्र करने के लिए सिकन्दर दक्षिण की ओर मुड़ गया।

सिकन्दर सिन्ध और मकरान के मार्गों से वापस गया। प्रत्येक स्थान पर उसकी शोचनीयावस्था को प्राप्त सेना के विभिन्न वर्ग भारतीयों द्वारा छुटपुट आक्रमणों, भुखमरी एवं रोगों से ग्रस्त होकर संख्या में कम-ही-कम होते गए।

इस वापसी के समय 'मलावी' नामक एक भारतीय जनजाति ने सिकन्दर के यूनानी राक्षसी झुण्डों का कड़ा मुकाबला किया। इसमें होने वाली अनेक मुठभेड़ों में स्वयं सिकन्दर भी घायल हुआ था। एक संघर्ष में तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने वाले थे। प्लूटार्च ने उल्लेख किया है, ''भारत में सबसे अधिक खूँखार लड़ाकू जाति मलावी लोगों के द्वारा सिकन्दर की देह के टुकड़े-टुकड़े होने ही वाले थे....अपनी छोटी-सी टुकड़ी और स्वयं अपने को ही इन बर्बर लोगों के तीर-भालों के भयानक संघातों से परेशान पाकर वह इन लोगों के मध्य में कूद पड़ा। उन लोगों ने हाथापाई तक में भयंकर आक्रमण किया। उनकी तलवारें और भाले सिकन्दर के कवच को भेद गए और उसे भयानक रूप में आहत कर दिया। शत्रु का एक शर-संधान इतने प्रबल वेग से हुआ था कि वह उसके जिरह-बख्तर को पारकर गया और उसकी पसलियों में घुस गया। सिकन्दर घुटनों के बल जा गिरा। उसी समय उसका शत्रु तलवार लेकर उसका शीष उतारने के लिए

दौड़ पड़ा। प्यूसेस्टस और लिम्नेयस ने स्वयं को सिकन्दर की रक्षार्थ आगे कर दिया, किन्तु उनमें से एक तो मार डाला गया और दूसरा अत्यन्त घायल हो गया।''

इसी मारकाट के बीच में सिकन्दर की गर्दन पर भारी मोटे सिरे वाली छड़ी का प्रहार हुआ। उसका अंगरक्षक उसे उसकी अचेतावस्था में ही किसी सुरक्षित स्थान पर ले गया।

सिकन्दर को बहुत बार एक महान् और नेक राजा के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु एर्रियन लिखता है कि, ''जब बैक्ट्रिया के बसूस को बन्दी बनाकर सिकन्दर के सम्मुख लाया गया, तब सिकन्दर ने अपने सेवकों से उसको कोड़े लगवाए और उसके नाक और कान कटवा डाले। बाद में बसूस को मरवा डाला गया। सिकन्दर ने कई फ़ारसी सेनाध्यक्षों को नृशंसतापूर्वक मरवा दिया था। फ़ारसी राजचिह्नों को धारण करने पर सिकन्दर की आलोचना करने के अपराध में सिकन्दर को स्वयं अपने ही गुरु अरस्तु के भतीजे कलस्थनीज़ को मरवा डालने में भी कोई संकोच नहीं हुआ था। क्रोधावस्था में उसने अपने ही मित्र क्लाइटस को मार डाला था। उसके पिता का विश्वासपात्र सहायक परमेनियन भी सिकन्दर के द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था। जहाँ कहीं भी उसकी सेना गई, उसने समस्त नगरों में आग लगा दी, महिलाओं का अपहरण किया और बच्चों को भी तलवारों की धारों पर सूत डाला। 'ग्लिम्पसिस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' के 72वें पृष्ठ पर स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि, ''सिकन्दर वृथाभिमानी, उद्धत और अत्यन्त क्रूर व हिंसक था। वह स्वयं को ईश्वर के समान ही समझता था। क्रोध के क्षणों में अथवा आवेशावस्था में उसने अपने ही सर्वोत्तम मित्रों के पुत्रों का वध किया, और महान् नगरों को उनके निवासियों-सहित ही पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।''

अन्य धर्मों की महिलाओं में ईरान की दो शहज़ादियों को सिकन्दर ने अपने घर में डाल लिया था। उसके सेनापतियों ने भी, जहाँ कहीं वे गए, अनेक महिलाओं को बलपूर्वक अपनी रखैल बनाकर रख लिया था।

भारत में उसका संघर्ष उसकी मौत का परवाना बन गया था। अपने घर वापिस जाते समय जब वह मीडिया में शिविर डाले पड़ा था, उसकी सेना में भयंकर विद्रोह फैल गया। सिकन्दर ने मेसेडोनियनों को बर्खास्त कर देने और अन्य जातियों में से सेना में भरती कर लेने की धमकी दी। बहुत कठिनाई से विद्रोह शान्त हुआ और सिकन्दर ई० पू० 323 में बेबिलोन पहुँचा।

बेबिलोन से प्रस्थान करने की निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व सिकन्दर अपने मित्र मीडियस के घर पर एक भोज में गया हुआ था। भारत-विजय करने में गर्वीला मस्तक नीचे झुक जाने की कटु स्मृतियों को भुला देने के लिए अत्यधिक मद्यपान के कारण वह ज्वरग्रस्त हो गया। उस समय वह केवल 33 वर्ष का था। ज्वर चढ़ा हुआ और भी तेज़ हो गया। 10 दिन के बाद उसकी वाक्शक्ति लुप्त हो गई, और फिर ई०पू० 323 में जून की 28 तारीख को वह अचेतावस्था में मर गया। सिकन्दर के मरणोपरान्त 'ओगस' नामक एक पुत्र जन्मा था, किन्तु कुछ महीनों के भीतर ही सिकन्दर की पत्नी एवं अबोध शिशु मार डाले गये।

आधार-ग्रन्थ सूची

1. प्रोफ़ेसर हरिश्चन्द्र सेठ्स रिसर्च पेपर ऑन दि टॉपिक, रैड एट दि इलाहाबाद सैशन (1938) ऑफ़ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।
2. प्रोफ़ेसर एस० एल० बोधनकर्स आर्टिकल्स ऑन दि टापिक।
3. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश।
4. ईथियोपिक टैक्स्ट्स ऐडिटेड बाई ई० ए० डब्ल्यू बैज।
5. 'ग्लिम्पसिस ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' बाई जवाहरलाल नेहरू।

तथाकथित 'आर्य जाति'—संज्ञा भारी भूल करने वाले पश्चिमी इतिहासकारों की कल्पना-सृष्टि है

अपने घृणित साम्राज्यवाद की तरंग में 18वीं शताब्दी में एशिया को रौंदते हुए पश्चिमी इतिहासकार मनगढ़न्त सिद्धान्तों की सृष्टि करने एवं उनको संसार के पराधीन राष्ट्रों के बलात् गले उतारने में लग गए।

मानसिक दृष्टि से उदासीन संसार पर थोपा गया इस प्रकार का मिथ्याधारित एक विचार'''एक छायाभास–तथाकथित 'आर्य जाति' का होना था। तभी से विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या, एक के बाद एक, 'आर्य' की परिभाषा करने, उनकी भाषा अथवा भाषाओं को जानने एवं उनके मूल देश का पता लगाने के दुष्कर कार्य में लगी हुई है।

छाया के पीछे इस प्रकार दौड़ने का परिणाम अत्यन्त नैराश्य एवं पूर्ण विफलता के अतिरिक्त कुछ होना ही नहीं था क्योंकि संस्कृत शब्द 'आर्य' की अशुद्ध व्याख्या और मौलिक भ्रान्तियों के कारण उत्पन्न अपनी ही कल्पनासृष्टि में तथाकथित 'आर्य जाति' का छायाभास, भारी भूल करने वाले पश्चिमी विद्वान्, कर बैठे।

अब साक्ष्य उपलब्ध है कि 'आर्य जाति' कभी थी ही नहीं, और इसीलिए उनका लहरों की भाँति एशिया और यूरोप में फैल जाना दृश्यमान सत्यता का घोर उपहास प्रतीत होता है।

संस्कृत–भाषी भारतीयों ने 'आर्य' शब्द की सृष्टि आदर्श के द्योतक के रूप में की थी। भारतीयों के लिए 'आर्य' शब्द सुसंस्कृतजन, पूर्ण कुलीन

व्यक्ति, आदर्श मनुष्य, अतिमानव का द्योतक था। महान् आदर्शवादी एवं आचरण की शुद्धता के दृढ़ पोषक व्यक्ति होने के कारण उन लोगों ने 'आर्य' की कल्पना उद्विकास की ऐसी स्थिति में की जिसमें पहुँच जाने की आकांक्षा, अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए।

इस सत्य का, सभी भारतीयों के लिए आदर्श वाक्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् 'सर्व विश्व को आर्य बनाओ' से बढ़कर और कौन-सा उत्तम प्रमाण होगा! यदि 'आर्य' शब्द किसी जाति का द्योतक रहा होता, तो उपर्युक्त आदर्श वाक्य प्रयोग एवं व्यवहार में नहीं आता क्योंकि जातिभावना की दृष्टि से प्रबुद्ध व्यक्ति, संसार को अपने समुदाय में सम्मिलित करना तो दूर, अपनी सत्ता सर्वथा पृथक् बनाए रखने में ही विश्वास रखते हैं।

प्राचीन भारत में पति अथवा राजा को सम्बोधन करते समय 'आर्य' शब्द का नित्य व्यवहार करना भी एक अन्य प्रमाण है। पति के लिए व्यवहार में आने वाला एक अन्य शब्द 'वर' है। संस्कृत में 'वर' शब्द अत्यधिक श्रेष्ठ व्यक्ति का द्योतक है, अतः 'आर्य' शब्द भी उसी भावना का समानार्थक है।

अतः 'आर्यों' को एक जाति समझना—और जाति में भी एक ऐसी जाति समझना जिसने अपने आपको सदैव तथाकथित 'दस्युओं या दासों से पृथक् समझा एवं निर्दयतापूर्वक उनका दमन किया—एक ऐसी भयंकर भूल है जिसने प्राचीन भारत एवं विश्व-इतिहास के अध्ययन को भ्रष्ट कर दिया है।

'आनुवंशिकता, जाति और समाज' नामक अपनी पुस्तक में भी डन्न और डोबज्ञान्स्की ने इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है। जब उन्होंने लिखा, 'मैक्समूलर ने····किसी दुर्दिन ही 'आर्य जाति' शब्द का प्रयोग किया था। इसीसे वास्तव में, केवल बातों ही बातों में एक काल्पनिक प्राणी····आर्य मानव की उत्पत्ति हो गई।''

भारतीय इतिहास की पुस्तकें हमको प्रारम्भ से ही तोते-की-सी-रट में यह सिखाने लगती हैं कि हम लोग अन्य देशीय हैं, तथा भारत के मूल निवासी लोग तो आदिवासी हैं। हमें विश्वास करने को कहा जाता है कि हम अन्य देशीय लोगों ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के मूल निवासियों

का प्रायः वंशलोप ही कर दिया। उस महाविध्वंस में भी जो लोग बच सके, वे आर्य जीवन में ही समा गए। इस घृणित धारणा पर निकट से पुनर्विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

मानवों को देखने एवं श्रेणीबद्ध करने का एक ढंग उनकी रूप-रचना पर आधारित है। इस प्रकार कहा जाता है कि हमारा यह संसार चार बड़े भागों में विभक्त है—श्वेत, श्याम, ताम्र एवं पीत वर्ण। जहाँ तक यह बात है, वहाँ तक तो ठीक है। किन्तु, श्वेत वर्ण वालों को 'आर्यों' की संज्ञा से विभूषित करना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है। जैसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, 'आर्य' शब्द तो 'सज्जन', 'संसुस्कृत' व्यक्ति का पर्याय था। अतः उपर्युक्त चारों वर्ण अथवा इनमें से कोई भी 'आर्य' कहा जा सकता था। यथार्थतः होता भी ऐसा ही है। जर्मन और ग्रीक लोग, जो श्वेत-वर्ण हैं, तथा भारतीय, जो ताम्र वर्ण लोगों की श्रेणी में रखे जाते हैं; सभी के सभी 'आर्य' समझे जाते हैं।

'आर्यों का देशान्तर गमन' का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस प्रकार क्षीण आधार पर स्थित है।

इसके पश्चात् आर्यों के आदि-स्थानों तथा उनके भारी संख्या में दो बार देशान्तर गमन के समय प्रयुक्त मार्ग 'अ' और 'ब' के सविस्तार वर्णन प्रारम्भ हो जाते हैं। इन वर्णनों को पढ़कर आश्चर्य यह होता है कि वह कौन-सा भाग्यशाली वृत्त-लेखक था जो इन आर्यों की दो लहरों द्वारा किए गए देशान्तर गमन के साथ अपनाए गए मार्ग का अवलोकन करने एवं चित्रण करने के लिए उनके साथ-साथ उछल-कूद करता रहा अथवा किसी ऊँची-पहाड़ी चट्टान पर वियुक्त हो विश्रामावस्था में बैठा रहा। मालूम पड़ता है, किसी भी नये सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व सभी प्रकार के ऊटपटाँग एवं सतर्कतापूर्ण प्रश्न करने वाले इतिहासकार बिना किसी प्रकार के प्रश्न एवं उन पर विचार किये ही आर्य-जाति और उनके देशान्तरगमन के सिद्धान्तों को 'निगल' गये हैं।

ऋग्वेद को केवल 3,000 वर्ष पुराना घोषित करने की मैक्समूलर की प्रारम्भिक भूल ने एक अन्य भयंकर भूल को जन्म दिया जब यह विश्वास

करने को कहा गया कि 5,000 वर्ष पूर्व हुए मोहन-जोदड़ो निवासी अवश्य ही वेद-पूर्व सभ्यता के लोग थे। किन्तु मोहन-जोदड़ो में शिवफलक की उपलब्धि एवं सिन्धु-घाटी की लिखावट में वेदों के नामों के स्पष्टोल्लेखों ने पश्चिमी विद्वानों की मान्यताओं को पूर्ण रूप में भू-लुण्ठित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि मोहन-जोदड़ो की सभ्यता द्रविड़ों की वेदपूर्व की सभ्यता थी। साथ ही, इसने यह भी सिद्ध किया है कि यह धारणा कि ऋग्वेद केवल 3,000 वर्ष पुराना है, अविश्वसनीय है।

जहाँ तक इस धारणा का सम्बन्ध है कि वेदों में वर्ण (रंग)-संघर्ष के प्रमाण उपलब्ध हैं, यह बात ध्यान रखने की है कि इन तथाकथित आर्यों में स्वयं ही श्याम-वर्णी एवं श्वेतवर्णी लोग थे। तथ्य रूप में 'वर्ण' शब्द सदैव रंग का द्योतक नहीं है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की भाँति वर्ग या श्रेणी बताता है। ऋषि कण्व का रूप श्याम था, इसी प्रकार इन्द्र भी था। वेदों में किसी वर्ण (रंग), संघर्ष की बात होना तो दूर, वहाँ तो हम इन दोनों को एक तृतीय पक्ष द्वारा शत्रु के रूप में एक ही श्रेणी में रखा गया पाते हैं (ऋग्वेद 10-83)।

क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि 'वास्तविक' श्वेत आर्यों द्वारा भारत पर 'आक्रमण' किए जाने से पूर्व मूल 'आर्यों' की एक उपजाति भारत में पहले ही विद्यमान थी?

लोकमान्य तिलक द्वारा वेदों में उत्तर-ध्रुवीय भूगोल की उपलब्धियों के सन्दर्भों का केवल एक ही अर्थ हो सकता था कि वैदिक ऋचाओं के स्रष्टा विश्व की चहुँ दिशाओं में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृत प्रचार-प्रसार के अपने आदर्श से प्रेरित होकर अपनी गवेषणात्मक साहसिकता में उत्तरी-ध्रुव की दुर्गम दूरी तक जा पहुँचे। इस पर डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक भारत' में पूर्ण प्रकाश डाला है।

ऋग्वेद का सम्यक् अध्ययन स्पष्ट करेगा कि दस्यु लोगों की ऐसी कोई प्रति-जाति नहीं थी जो तथाकथित 'आर्यों' से मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं में भिन्न हो।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्य लोग कोई एक

जाति न होकर सुसंस्कृत मानव का भारतीय आदर्श था। दूसरी बात यह है कि समस्त विश्व में मिलने वाले संस्कृत-संस्कृति के चिह्नों का मूल 'आर्य' जाति या भाषा से न होकर संसार के सभी ओर-छोर में ज्ञान और संस्कृति का प्रकाश पहुँचाने को तत्पर संस्कृत भाषी भारतीयों के प्रारम्भिक प्रयत्नों का परिणाम है।

चूँकि 'आर्य-जाति' नाम की कोई जाति हुई ही नहीं, इसलिए उनके मूल निवासस्थान, उनके देशान्तरगमन तथा उनकी मूलभाषा के लक्षणों को ढूँढ़ निकालने के सभी प्रयत्न निष्फल होने ही थे—जैसे कि वे सचमुच हुए भी हैं। 'आर्य-जाति' की विद्यमानता में यह विश्वास बनाए रखना ऐतिहासिक अन्वेषण की भयंकर भूल रही है। इसका प्रतिवाद करने की अत्यन्त आवश्यकता है। आर्यों का एक जाति तथा परिकल्पित देशान्तर-गमन के रूप में वर्णन करने वाले सभी सन्दर्भों को विश्व-इतिहास से निकाल फैंकना चाहिए।

प्राचीन भारतीयों ने प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठतर और महानतर बनाने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा था जिससे प्रत्येक मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सके। सामान्य मानवता और दैवांश के मध्य की इस अवस्था को प्राचीन भारतीयों ने 'आर्य' नाम से पुकारा था। अतः 'आर्य' शब्द केवल मात्र श्रेष्ठ आत्मा का अर्थ-द्योतक है। सौहार्द्र, शिष्टता, शालीनता और सद्गुणों के प्रतीक के रूप में व्यक्ति को 'आर्य' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

आधार ग्रन्थ-सूची

1. सम आर्टिकल्स ऑन दि टोपिक रिटन बाई डॉक्टर एन० आर० वरहद पाण्डे, ऑफ़ न्यू देहली।
2. हैरिडिटी, रेस एण्ड सोसायटी, बाइ डन्न एण्ड डोब्जान्सकी।
3. दि संस्कृत लैंग्वेज, बाइ टी० मुरो।
4. दि वैदिक ईडैक्स, बाइ कीथ एण्ड मैक्डोनल्ड।
5. ऋग्वैदिक इण्डिया, बाइ डॉक्टर अविनाशचन्द्र दास।



पुरूषोत्तम नागेश ओक

जन्म : 2 मार्च 1917, इन्दौर (म० प्र०)
शिक्षा : बम्बई विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० वी०
जीवन कार्य : एक वर्ष तक अध्यापन कर सेना में भर्ती।

द्वितीय विश्व युद्ध में सिंगापुर में नियुक्त। अंगरेजी सेना द्वारा समपर्ण के उपरान्त आज़ाद हिन्द फौज के स्थापन में भाग लिया, सैगौन में आज़ाद हिन्द रेडियो में निदेशक के रूप में कार्य किया।

विश्व युद्ध की समाप्ति पर कई देशों के जंगलों में घूमते हुए कलकत्ता पहुँचे। 1947 से 1974 तक पत्रिकारिता के क्षेत्र में (हिन्दुस्तान टाइम्स तथा स्टेट्समैन में) कार्य किया तथा भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय में अधिकारी रहे। फिर अमरीकी दूतावास की सूचना सेवा विभाग में कार्य किया।

देश-विदेश में भ्रमण करते हुए तथा ऐतिहासिक स्थलों का निरीक्षण करते हुए उन्होंने कई खोजें कीं। उन खोजों का परिणाम उनकी रचनाओं के रूप में हमें मिलता है। उनकी कुछ रचनाएँ हैं-ताजमहल मन्दिर भवन है, भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें, विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय, वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, कौन कहता है अक्बर महान था?

उनकी मान्यता है कि पाश्चात्य इतिहासकारों ने इतिहास को भ्रष्ट करने का जो कुप्रयास किया है, वह वैदिक धर्म को नष्ट करने के लिए जानबूझकर किया है और दुर्भाग्यवश हमारे स्वार्थी इतिहासकार इसमें उनका सहयोग कर रहे हैं।

हिन्दी साहित्य सदन
2 बी०डी० चैम्बर्स,10/54 डी. बी. गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली 110005
Email : indiabooks@rediffmail.com